ब्रजलोक-संस्कृति

[लोक-संस्कृति के अध्ययन और निर्माण पर
अधिकारी विद्वानों के अभिभाषण]

सम्पादक : सत्येन्द्र

ब्रज-लोक-संस्कृति

विषय-सूची

भूमिका

यह पुस्तक 'ब्रजलोक-संस्कृति' पाठकों के हाथ में है। यह पुस्तक कैसे तय्यार हुई और क्यों हुई यह आगे के अध्याय से प्रकट होगा। हमें खेद है कि हम इसमें दो-तीन आवश्यक भाषण नहीं दे सके। अन्तिम क्षण तक हमें इन भाषणों की प्राप्ति का आश्वासन मिलता रहा। पुस्तक इन भाषणों के लिए कितने ही समय तक रुकी रही, पर वे भाषण न आ सके। उन भाषणों के वचन अब भी हमें मिले हुए है। संभवतः उनका उपयोग अगले संस्करण में किया जायगा। इन प्रस्तावित भाषणों के स्थान पर जो भाषण शिविर मे हुए थे, वे भी हम नहीं दे सके। आश्वासनों पर भरोसा किये हम अब तक रुके रहे, और अब पुस्तक को प्रकाशित करना अनिवार्य हो गया। अतः वे भाषण नहीं दिये जा सकते। हम पाठकों से क्षमा-प्रार्थी हैं।

इस पुस्तक में जो चित्र दिये गये है, वे सभी मथुरा पुरातत्व संग्रहालय से मिले हैं। उक्त संग्रहालय के क्यूरेटर महोदय श्री कृष्णदत्त वाजपेयी का इस पुस्तक की चित्र-व्यवस्था में पूरा हाथ रहा है।

ब्रज-साहित्य-मण्डल अभी इस पुस्तक को प्रकाशित नहीं कर पाता यदि श्री गुरुदत्तजी चतुर्वेदी ने इसकी छपाई का समस्त व्यय प्रदान न किया होता। यह पुस्तक उनकी स्वर्गीया पुत्री के स्मारक स्वरूप प्रकाशित की जा रही है।

मण्डल के प्रधान-मन्त्री श्री गोपालप्रसाद व्यास हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। उनके साहस से ही 'शिक्षण-शिविर' संभव हो सका। शिक्षण-शिविर के बहाने से ही यह पुस्तक प्रस्तुत हुई है। इसके लिए धन जुटाने में भी उन्हें दौड़धूप करनी पड़ी है। साहित्य प्रेस के संचालक श्री महेन्द्रजी ने प्रेस की प्रत्येक सुविधा इस पुस्तक के लिए दी है। हम उनके भी कृतज्ञ हैं।

ब्रज-लोक-संस्कृति

शिक्षण-शिविर की आयोजना

ब्रज साहित्य-मंडल और पंचवर्षीय योजना:—कहानी विशेष लम्बी नहीं है। ब्रज-साहित्य-मण्डल शिकोहाबाद अधिवेशन ने एक पंचवर्षीय योजना प्रस्तुत करने का विचार किया। उसकी एक स्थायी-समिति में वह पंचवर्षीय योजना गम्भीर विचारोपरान्त स्वीकार की गयी। उस पंचवर्षीय योजना में सबसे पहला प्रस्ताव 'लोक-संस्कृति शिक्षण शिविर' का था।

क्यों ? स्थायी समिति में शिक्षण शिविर के संबंध में कितने ही प्रश्न पूछे गये। इस शिविर से मण्डल को क्या लाभ होगा ? इसमें जो विषय रखे गये हैं उनके व्याख्याता कौन होंगे ? इसमें किस योग्यता के विद्यार्थी लिये जायँगे ? ये व्याख्यान तो ऊँचे साहित्यिक धरातल के होंगे ? इन विषयों की क्या उपयोगिता होगी ? इनके शिक्षण की क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार अनेकों प्रश्न पूछे गये। वास्तव में ये प्रश्न और आशंकायें योजना में इस सर्वथा नवीन-विधान के कारण थीं।

सर्वथा नवीन— अभी तक हम लोगों ने सैनिक और बालचर्य के शिविरों को ही देखा और सुना था। राजनीतिक प्रचार और कार्य की शिक्षा के लिए भी शिविर होते रहे हैं। पर सांस्कृतिक और साहित्यिक उद्देश्यों से शिक्षण शिविरों का आयोजन सर्वथा नवीन उद्योग था। इसी कारण यह अनेक संदेह उत्पन्न होते थे।

मूल योजना—मण्डल के पंच-वर्षीय कार्य-क्रम में शिक्षण-शिविर की मूल-योजना का यह रूप था।

प्रथम वर्ष—ग्राम-साहित्य संकलन कर्त्ताओं के लिए शिक्षण-शिविर। यह पंद्रह दिन की अवधि का हो।

१—यह शिविर १५ दिन के लिए होगा।

२—हिन्दी-मिडिल की योग्यता रखने वाला व्यक्ति इसमें सम्मिलित हो सकता है।

३—यह शिविर मथुरा में होगा।

४—शिविर में भोजन-व्यय विद्यार्थियों को स्वयं देना होगा। शिविर का प्रबन्ध और विद्यापीठ का प्रबन्ध मण्डल करेगा।

५—शिविर के निवास-प्रबन्ध तथा शिक्षा प्रबन्ध के लिए दो समितियाँ होंगी—

(अ) निवास-प्रबंध समिति में निम्न सदस्य होंगे—

१—निवास-विभाग सदस्य—यह व्यक्ति स्थान नियत करेगा। विद्यार्थियों को स्थान निश्चित करेगा; उन्हे रहन-सहन सम्बन्धी आवश्यक सामग्री, फर्नीचर वगैरह की सुविधा दिलायेगा।

२—सफाई-विभाग सदस्य—स्थान तथा व्यक्ति की आवश्यक स्वच्छता का प्रबन्ध करायेगा।

३—जल-विभाग सदस्य—विद्यार्थियों तथा शिविर निवासियों के स्नान-पान तथा भोजन आदि के लिए जल का प्रबन्ध करायेगा।

४—प्रकाश-विभाग सदस्य—प्रकाश का प्रबन्ध करायेगा।

५—निवास-अनुशासन सदस्य—यही व्यक्ति निवास का मुख्याधिष्ठाता तथा निवास समिति का संयोजक होगा।

६—भोजन-विभाग-सदस्य—भोजन के प्रबन्ध पर दृष्टि रखेगा।

(आ) शिक्षण-समिति में निम्न सदस्य होंगे। ये सभी शिविर मे शिक्षण की उचित व्यवस्था का ध्यान रखेंगे—

१—प्रधानाध्यापक

२—पुस्तक—प्रबन्धक

३—यात्रा—संयोजक

४—कलाकार

५—लेखक

शिक्षण का प्रोग्राम निश्चित करने तथा उसके लिए आवश्यक सामग्री जुटाने का भार इसी समिति पर है। प्रधानाध्यापक इसका संयोजक होगा।

शिक्षण की व्यवस्था में निम्न बातों पर ध्यान दिया जायगा —

१—निश्चित पाठ्य-क्रम के अनुसार व्याख्यानों का प्रबन्ध कराना।

२—प्रत्येक व्याख्यान के लिए व्याख्यान के दिन आवश्यक पुस्तकें उपलब्ध करना तथा प्रति दिन उपयोग में आने वाली पुस्तकों के एक पुस्तकालय का प्रबन्ध करना। इसके लिए सुझाव यह है कि विशेष उद्योग करके मथुरा म्यूजियम तथा दोनों कालेजों के पुस्तकालयों का सहयोग प्राप्त कर लिया जाय।

३—यात्रा-संयोजक प्रधानाध्यापक से परामर्श कर ऐसी यात्राओं का प्रबन्ध करायेंगे, जिनसे व्याख्यान में ग्राम-संस्कृति से सम्बंधित बातों का प्रत्यक्ष ज्ञान विद्यार्थियों को कराया जा सके।

४—ऐसी योजनाओं में काम आने वाली वस्तुओं के चित्र तथा मॉडल आदि बनाने का भी काम साथ में होना अच्छा होगा। यह कार्य कलाकार सदस्य करायेगा।

५—एक लेखक सदस्य होगा जो मुद्रित व्याख्यानों के अतिरिक्त जो अन्य प्रश्न कक्षाओं में पूछे जायँगे, उनका उत्तर मण्डल के लिए लिखता चला जायगा। यात्राओं के वर्णन लिखने या लिखाने का प्रबन्ध भी यह सदस्य करेगा।

इस शिविर का पाठ्य-क्रम निम्न लिखित होगा —

१—ब्रज की भूगोल—जन-तत्व।

२—ब्रज की जातियाँ, नृविज्ञान, Racial elements in Vraja and their characteristic study

३—ब्रज की कला ग्राम्य तथा नागरिक, स्थापत्य, मूर्ति, चित्र नृत्य, संगीत।

४—ब्रज की लिपियाँ का इतिहास-विकास।

५—लोकधर्म, रीति-रिवाज, उत्सव तथा संस्कार।

६—लोकवार्ता-अध्ययन तथा संकलन प्रणाली।

७—ब्रज का इतिहास।

८—ब्रज साहित्य का इतिहास।

९—ब्रज संस्कृति का पुनर्निमाण कैसे; कुछ व्यावहारिक परामर्श।

१०—ग्राम-गीत, उनके छन्द तथा वस्तु।

११—ब्रज मे हस्तलिखित ग्रंथो की खोज के नियम।

१२—साहित्य और संस्कृति के शोध का महत्व।

ये व्याख्यान लिखित होगे। प्रश्न और उत्तर के द्वारा विषय को प्रस्तुत किया जायगा। प्रश्न तालिका शिक्षण समिति बना कर भेजेगी, व्याख्याता उसमें उचित संशोधन करके उत्तर देंगे। व्याख्याताओं को व्याख्यान देने के लिए बुलाया जायगा और वे व्याख्यान मे विद्यार्थियो के अन्य प्रश्नो का मौखिक उत्तर भी देंगे। प्रत्येक व्याख्याता से यह प्रार्थना भी की जायगी कि वे साथ मे उन पुस्तको की सूची भी देने की कृपा करें, जो इस विषय के लिए विद्यार्थियो के उपयोगी सिद्ध हों; साथ ही वे यह भी उल्लेख करें कि क्या कुछ ऐसे माडल तथा चित्र भी हैं, जिन्हें वे चाहेंगे कि मंडल व्याख्यान के लिए तय्यार कराये या मँगाये। अन्य आवश्यक सामग्री का भी वे उल्लेख कर देने की कृपा करेंगे।

ये व्याख्यान छपाये जायँगे और इनका मूल्य रखा जायगा। इस शिविर में कितने विद्यार्थी सम्मिलित किये जायें, इसका निश्चय स्थायी समिति अथवा प्रचार समिति करेगी। १५ विद्यार्थियों पर ५००) व्यय होने का अनुमान है—२००) के लगभग व्याख्याता महोदयो के सम्मानार्थ। व्याख्याताओं को उनके व्याख्यानो पर मण्डल अपने नियम के अनुसार रायल्टी भी देगा।

इसका उद्घाटन किसी योग्य और प्रभावशाली व्यक्ति से कराया जायगा।

शिविर की समाप्ति पर एक विशेष उत्सव कराया जायगा जिसमे विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र प्रदान किये जायँगे।

शिविर का शिक्षण के अतिरिक्त कार्य-क्रम बालचरो के कैम्प विधि के अनुसार किया जायगा।

योजना की व्याख्या:—इस योजना की व्याख्या में प्रस्तावक महोदय ने कुछ इस प्रकार स्पष्टीकरण किया था:—

"ब्रज साहित्य-मंडल के पास दो प्रकार के साहित्यिक कार्य हैं। एक प्राचीन लिखित ग्रन्थों का शोध कराना, उनके अध्ययन को प्रोत्साहन देना। दूसरा लोक मे प्रचलित मौखिक साहित्य का सकलन और अध्ययन। मडल ने इन दोनों कार्यों को करते हुए पद-पद पर यह अनुभव किया कि यह कार्य सार्वजनिक रूप से करने मे अनेकों कठिनाइयाँ प्रस्तुत होती हैं। शोध का कार्य अभी तक प्रधानत हिन्दी क्षेत्र में नागरी प्रचारिणी-सभा काशी ने कराया है। उसका यह कार्य उसके द्वारा नियुक्त एजेंटों ने किया है। इस शोध की भी अपनी टेक्नीक और वैज्ञानिक विधि है। यह विधि सर्वसाधारण को ज्ञात नहीं। मडल यह अनुभव करता है कि वह गाँव-गाँव मे केन्द्र खोले, और प्रत्येक केन्द्र से उसके ही व्यक्तियों द्वारा यह कार्य कराये। वे यह कार्य कैसे करें? यह प्रश्न उपस्थित हुआ। मौखिक लोक-साहित्य को एकत्र करना और भी टेढ़ी खीर है। क्या एकत्र किया जाय, क्या न किया जाय? किस प्रकार किया जाय? यह लोक-साहित्य लोक-वार्त्ता और लोक-साहित्य से घनिष्ठ रूपेण सम्बन्धित है। बिना लोक-वार्त्ता के लोक-साहित्य को ठीक रूप मे ग्रहण नहीं किया जा सकता। लोक-साहित्य की जड़े लोक-जीवन में बड़ी गहरी चली गई हैं।

आज हम गाँवों मे और नगरों मे रहते हैं, किन्तु हमारे लिये ये गाँव और नगर बन्द पुस्तकें हैं। हम गाँव में रहते हुए भी वहाँ की एक भी बात का मर्म आज नहीं समझ सकते, या पाते। गाँवों के चित्र, गाँव के नृत्य, गाँव के उत्सव और त्योहार, उनकी बनावट और बसावट, विविध मनुष्यों की आकृतियाँ, उनके मनोरञ्जन सभी संस्कृति के वृहत ग्रन्थ के शब्द और वाक्य हैं। किन्तु हम उनको क-ख-ग नहीं पढ़े। ब्रज-साहित्य-मडल को लोक-सेवा और लोक-अध्ययन के लिए यह कार्य अत्यन्त आवश्यक है कि इनके मर्म को समझने के लिए साधन प्रस्तुत करें।

योजना मे सुझाये हुए सभी विषय जन-साधारण के मौलिक अध्ययन से सम्बन्ध रखते हैं फिर भी एक विशेष प्रकार के विद्वत् वर्ग ही उसके विज्ञान से परिचित है। ब्रज-साहित्य-मडल लोक-भाषा हिन्दी मे इस शिविर द्वारा पहली बार इन विषयों का आरम्भिक विज्ञान प्रस्तुत करेगा। इस शिक्षण से इन विषयों की रुचता तो अवश्य प्राप्त

नहीं होगी, पर काम चलाऊ ज्ञान अवश्य हो जायगा। इतना ज्ञान हो जायगा कि सीखने वाला लोक-प्रवृत्तियों के प्रति आँखें रहते भी अन्धा नहीं रहेगा। हिन्दी में एक विषय की पूर्ति हो जायगी, और शोध और संकलन के कार्य की टेक्नीक को जानने वाले कार्यकर्त्ता तय्यार हो सकेंगे।

ये सभी भाषण और अध्यापन हिन्दी में होंगे, और यथा सम्भव लाक्षणिक और पारिभाषिक शब्दों को बचाकर दिये जायँगे। अतएव साधारण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी इनसे लाभ उठा सकेगा।

इस योजना को कार्य रूप में परिणत करते समय जो विस्तृत रूप होगा, उसमें इस बात का ध्यान रखा जायगा कि प्रत्येक विषय ठीक-ठीक हृदयंगम कराया जा सके। इस निमित्त इस योजना में कई उपाय रखे गये हैं।

मूर्ति-प्रस्तुतियों—१ प्रत्येक व्याख्यान के सम्बन्ध में यह चेष्टा की जायगी कि अधिक से अधिक चित्र, फलक, मूर्ति, अथवा वस्तुओं का साक्षात्कार कराया जा सके। इनको प्रस्तुत करते समय प्रत्येक व्याख्यान के आरम्भ में कलाकार इनके मर्म को प्रकट करेगा और विद्यार्थियों को उनका परिचय देगा।

पूर्व पीठिका—२ व्याख्यान से पूर्व आचार्य उस व्याख्यान का मूल अभिप्राय और व्याख्याता का परिचय करा देगा।

प्रश्न-निर्णय—३ व्याख्यान के पश्चात् शंकाओं को प्रश्न के रूप में आचार्य की सहायता से लिख लिया जायगा। ये प्रश्न भाषणकर्त्ता के पास पहुँचा दिये जायँगे।

पुस्तकावलोकन—४ उसी विषय पर उस दिन वे पुस्तकें पुस्तकालय में रखदी जायँगी जो उस विषय से सम्बन्धित होंगीं। उन्हें विद्यार्थी पढ़ेंगे।

रात्रि-गोष्ठी—५ रात की गोष्ठी में लोक-अभिव्यक्तियों का प्रदर्शन होगा। इन विधियों से विषय का पूर्ण अध्ययन कराने का यत्न किया जायगा। इस स्पष्टीकरण से 'शिविर' के रूप को समझने में सभी को सहायता मिली। स्थायी समिति ने योजना स्वीकार करली और इस दिशा में कार्य आरम्भ कर दिया गया।

प्रोत्साहन - इस योजना का सभी ने बड़े उत्साह से स्वागत किया। सबसे पहले ख्यातनामा प० बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने कुछ पंक्तियों में ही किन्तु बड़ी सारगर्भिता से उस योजना की प्रशंसा की। महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह ने सीतामऊ से एक विस्तृत पत्र भेजा। उसमें ये पंक्तियाँ विशेष द्रष्टव्य थीं—

"ब्रज की भारत को सबसे बड़ी देन है भारतीय साहित्य की काव्य की भाषा, पिंगल या ब्रज बोली। सुदूर कच्छ में अब भी पिंगल काव्य रचना का एक स्कूल है जहाँ बारहठ, चारण, आदि ब्रजभाषा में कविता करना सीखते हैं। 'ब्रजभाषा' की यह साहित्यिक विजय इतनी विस्तृत एवं सम्पूर्ण थी कि अभी तक इसका पूरा पूरा स्वरूप न तो पाया ही जा सका है और न इस सम्बन्ध में कोई प्रयत्न ही किए गए। आज पुनर्जागृत भारत में इसकी ओर ध्यान देना अत्यावश्यक है। सुसगठित एवं सुजाग्रत ब्रजभूमि ही भारत की इस विगत महत्ता को ठीक-ठीक आंकने का प्रयत्न कर सकती है। ब्रजभाषा का भारतीय भाषाओं के इतिहास एवं हिन्दी-साहित्यिक विवरण में ठीक ठीक स्थान तभी निश्चित किया जा सकेगा।

ब्रज-मडल की सांस्कृतिक सीमाएँ निश्चित करते समय आस-पास के राज्यों को न भूलें। भरतपुर नरेश यों ही 'ब्रजेन्द्र' नहीं कहला सकते, उनका राज्य भी इसी सांस्कृतिक इकाई में आवेगा। इसी प्रकार अन्य भागों की भी नाप तोल कर अन्तिम रूप-रेखा निश्चित करनी होगी।

ब्रज-मण्डल की पञ्चवर्षीय योजना बहुत ही मनोरञ्जक और उपयोगी वस्तु है। बहुत ही साहसपूर्ण तथा Ambitious आयोजन है। मैं ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि वह इस आयोजन को पूरा करने में आप से सोत्साही पुरुषों को बल और सहायता दे। हम भारतीय प्राय आरम्भ शूर ही होते हैं। काम प्रारम्भ कर देना कठिन नहीं। उसे निबाहना और सफलतापूर्वक पूरा करना बिरलों का ही काम होता है।" इसी स्थान पर लोक-वार्त्ता परिषद् टीकमगढ के मंत्री तथा 'लोकवार्त्ता' पत्र के सम्पादक श्रीकृष्णानन्द गुप्त का एक उत्साह-वर्द्धक पत्र यहाँ पूरा उद्धृत किया जाता है—

ता० १२-१२-४६

प्रिय श्री सत्येन्द्रजी !

आपका ता० २२-११-४६ का कृपा कार्ड मिला। मैं बाहर था। अभी लौटा हूँ। इसी से उत्तर में विलम्ब हुआ। क्षमा कीजियेगा।

आपका प्रस्ताव तो बड़ा ही उत्तम है। उसमें आप जैसा चाहें वैसा सहर्ष मेरा उपयोग कर सकते हैं। सम्भवतः मैंने लिखा था कि इस प्रकार की एक प्रदर्शिका मैं लिखना चाहता हूँ कि जिससे इस विषय के प्रेमियों और कार्यकर्त्ताओं को कुछ सहायता मिले। उधर भोजपुरी के क्षेत्र में भी कुछ इसी प्रकार के कार्य की योजना चल रही है, और वे लोग मुझ से कुछ सूचनायें चाहते हैं। इसलिए अगर किताब लिख सका तो वह बहुत सामयिक और उपयोगी होगी।

छोटे व्याख्यान से तो काम नहीं चलेगा। आप शिविर कब तक कर रहे हैं। जनवरी तक शायद मैं आपके लिए व्याख्यान की जगह एक व्याख्यान माला तैयार कर सकूँ। उस वक्त ही शिविर रखिए। तब तक पूरी तैयारी और आपका प्रचार भी हो जायेगा।

इस सम्बन्ध में एक सुझाव आपके सामने रखना चाहता हूँ। उचित समझें तो उस पर विचार करें। शायद आपको मालूम होगा कि पुरातत्त्व-विभाग की तरह भारत सरकार ने हाल ही में Anthropological survey के नाम से एक स्वतन्त्र विभाग की स्थापना की है। डा० वैरियर एलविन जो कि मुझ पर विशेष कृपा रखते हैं उसके डिप्टी डाइरेक्टर नियुक्त हुए हैं। वे हमारी लोक वार्त्ता परिषद् के सभापति भी हैं। अतः परिषद के सहयोग में आप यह काम करना पसन्द करें तो सम्भवतः एक दिन के लिए मैं उन्हें आगरा या मथुरा आने के लिए प्रेरित कर सकूँगा। मगर उनके आने के संबन्ध में मैं अभी कुछ नहीं कह सकूँगा। वे अभी बाहर टूर पर उड़ीसा की तरफ गये हैं। १५ जनवरी के बाद लौटेंगे। हमारा और आपका काम एक ही है। उनको यदि हम बुला सके तो प्रचार में बड़ी मदद मिलेगी।

एलविन साहब को बुलाने के उद्देश्य से ही मैंने यह बात आपके सामने रखी है और परिषद की तरफ से यदि कुछ कार्य आप संयोजित कर सकें तो उन्हें बुलाने का अधिकार मुझे स्वतः प्राप्त है।

इसमें अगर किसी तरह के मेरे सहयोग की जरूरत हो तो मैं निस्सन्देह तैयार रहूँगा आप इस प्रस्ताव को किसी और रूप में न लें। आशा है आप सानन्द हैं।

आपका—कृष्णानन्द

फीरोजाबाद अधिवेशन पर—शिक्षण शिविर की योजना डा० रामप्रसाद त्रिपाठी एम० ए०, डी०एस-सी० के सभापतित्व में स्वीकार की गयी थी। उस समय श्री सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव एम०ए०, एल०टी० सब डिप्टी इन्स्पैक्टर आव स्कूल्स मथुरा इसके प्रधान मन्त्री थे। इनके कार्यकाल में योजना की विधिवत् स्थायी समिति से स्वीकृति लेते लेते प्राय वर्ष समाप्त हो गया। फलत फीरोजाबाद अधिवेशन से इस योजना को पूरी गति मिली। इस वर्ष के सभापति प० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने अपने सभापति पद से भाषण देते हुए इन योजनाओं के सम्बन्ध में ये शब्द कहे थे—

तृतीय वार्षिक अधिवेशन शिकोहाबाद के अवसर पर प्रकाशित ब्रज साहित्य मण्डल के पच वार्षिक विवरण को पढ कर ही मण्डल के कार्यकर्त्ताओं के प्रति हृदय हर्ष और स्नेह से भर जाता है। ब्रज साहित्य मण्डल की पच वर्षीय योजना के अनुसार इस वर्ष जो काम हुआ वह तो और भी अधिक प्रशसनीय है।

इस पचवर्षीय-योजना को और भी विस्तृत और परिवर्द्धित करके इसे तथा इसमें प्रस्तावित शिक्षण शिविर को भारत की सभ्यता और सस्कृति, ब्रज की सभ्यता और सस्कृति अथवा ब्रज की सभ्यता और सस्कृति के पुन सजीवन का सफल साधन बनाया जा सकता है। वह भारत भर के लिए ग्राम गुरुकुल का काम कर सकता है। कम से कम सयुक्त प्रान्त के पश्चिमी ग्रामों का एक ग्राम-विश्व-विद्यालय तो बन ही सकता है। मैं उन लोगों में से हूँ जो ब्रज के साहित्य और उसकी सस्कृति को गावों का साहित्य और गाँवों की सभ्यता तथा संस्कृति समझता हूँ और गावों की सभ्यता तथा सस्कृति को भारत की वास्तविक सभ्यता तथा सस्कृति मानता हूँ।

महात्मा गाधी के साथ-साथ मेरा भी यह विश्वास है कि मानवता के सत्य-शाति-सुख आदि पश्चिम में नहीं मिलेंगे—पूरब में

मिलेंगे। महात्माजी के शब्दों में यीशु का धर्म भी जो पूरब में ही पैदा हुआ था पश्चिम में जाकर तो वह भी विकृत ही हुआ। स्पैंगलर ओसवाल्ड का कहना है कि पश्चिम का समाजवाद-साम्यवाद और मार्क्सवाद का भी मूलाधार यह भाव है कि 'आई समझ में कि लाऊँ लट्ठ ?' सोवियट रूस भी मार्क्सवाद की शिक्षा हवाई जहाजों और टैंकों से देता है और अब ऐटमबम से देने की तैयारी कर रहा है। केवल सेवा, तर्क, विवेक और उपदेश द्वारा मानव-हृदय को सुसंस्कृत और परिवर्त्तन करने का काम तो संसार के इतिहास मे अकेले भारत ने ही किया था—आज से दो हजार बरस पहले। और किया था इतनी सफलता के साथ कि वह श्याम, मलाया, अफगानिस्तान, चीन, जापान इत्यादि देशो मे चारों तरफ फैला। महात्माजी की यह बात तो मेरे जीवन का मूल मन्त्र है कि पूरब में भारत में भी सत्य और धर्म, सुख और शांति, सभ्यता और संस्कृति हमें गांवों मे ही मिलेगी शहरो मे नहीं। व्रज का साहित्य और व्रज की सभ्यता तथा उसकी संस्कृति गाँवों की सभ्यता और संस्कृति है। इन्द्र और गोवर्धन दोनो ही मुख्यत: गांवों के देवता हैं। यदि संसार में कभी वसुधैव कुटुम्बकम् का स्वप्न पूरा होना है, विश्व-संघ और एक संसार की तथा स्थायी शाँति, वास्तविक लोकतन्त्र सच्ची स्वाधीनता की स्थापना होनी है तो वह गांवो की सभ्यता और संस्कृति से ही होनी है।

इस दृष्टि से आप भी व्रज-साहित्य-मण्डल का काम करके केवल व्रज की ही नहीं समस्त देश की और अखिल विश्व की सेवा कर रहे हैं। आप व्रज के साहित्य और उसकी संस्कृति की रक्षा के प्रयत्न मे अनजाने ही भारत की सभ्यता और उसकी संस्कृति की रक्षा कर रहे हैं और याद रखिये कि ऐसे समय मे जब भारत राजनीतिक स्वाधीनता के समीप जा पहुँचा है उसकी मुख्य समस्या राजनीतिक स्वाधीनता के बाद केवल आर्थिक स्वाधीनता की ही नहीं साँस्कृतिक स्वाधीनता की भी है। भारत का पेट ही नहीं खाली उसकी आत्मा भी भूखी है।

× × × ×

हमारा शिक्षण-शिविर केवल ग्राम-साहित्य-संकलनकर्ताओं के

लिए ही न हो, वल्कि वह ब्रज-साहित्य, ब्रज-सभ्यता और ब्रज-सस्कृति अथवा ग्राम-साहित्य, ग्राम-सभ्यता और ग्राम सस्कृति का पुनरुज्जीवन करने वाले पूर्णतया शिक्षित कार्य-कर्त्ताओ की शिक्षा का ऐसा केन्द्र हो जहाँ से निकल करके कार्य-कर्ता भारत के आठ लाख उजडे हुए गाँवो को फिर से सुख और प्रकाश का केन्द्र अथवा सभ्यता और सस्कृति का स्रोत बना सकें। यह केवल शिक्षण-शिविर ग्राम-विश्वविद्यालय अथवा ग्राम गुरुकुल हो और जिसमे नियमित शिक्षा के अतिरिक्त युद्धकालीन शिक्षाओं ग्रामादि की शिक्षाओ तथा कुछ महीने कार्य द्वारा शिक्षण तथा कुछ महीने सिद्धान्त आदि की शिक्षा का भी प्रबध हो।

गावों को जीवन के रूप के सबन्ध मे, उनके जीवन की उपजों के अभियन्त्रीकरण के संबन्ध में, गावों के मेलो तथा विविध उत्सव व्यवहारादि को अधिक सजीव सरस और शिक्षा प्रद तथा उपयोगी बनाने के सबन्ध में विचार हो।

गाँवों मे प्रचलित अनेक सस्थाओं आदि का सदुपयोग करके हम फिर से गाँव के जीवन को आदर्श बना सक्ते हैं। दिवाली सफाई का, हरियाली तीजों को वृक्ष फूलादि लगाने का, सलूनों-को टूर्नामेंटो का, होली को पारस्परिक मेल का तथा कुश्ती आदि द्वारा शारीरिक उन्नति का सबल तथा कारगर साधन बनाया जा-सकता है। ग्राम-गीत और गाँवों के गायक सफल प्रचार के सबल साधन बन सकते हैं। रासों को जन-नाट्य का रूप दिया जा सकता है। इस थोडे से संकेत मात्र से ही आप इस बात की कल्पना भली-भाति कर सकते हैं कि ब्रज-साहित्य-मण्डल के सामने कार्य का कितना विशाल क्षेत्र पडा हुआ है ? और वर्तमान समय में जब देश स्वाधीनता के समीप पहुँच रहा है तथा निकट भविष्य में ही उसके पूर्णतया स्वाधीन होने की पूर्ण आशा है तब इन सब कार्यों के लिए आवश्यक साधनों की भी कमी नहीं रहेगी।

अपना लक्ष्य ऊंचा रखिये, अपने दृष्टिकोण को अधिक से अधिक उदार बनाइये तो आप देखेंगे कि जनता और सरकार दोनों ही सहर्ष सब तरह आपकी सहायता करेगीं।

मण्डल का कार्य इन वर्षों में इतनी गति और वेग से चला,

उसके कार्य-कर्त्ता की प्रणाली का कुछ ऐसा रूप रहा कि उसकी धूम भी पर्याप्त हुई। इससे और भी अधिक उसे कार्य करने की माँग होने लगी। नये चुनाव में प्रधान-मन्त्रित्व श्री गोपालप्रसाद व्यास को सौंपा गया। व्यासजी ठोस कार्य के लिए संकल्पबद्ध थे। उनका निश्चय था कि इस वर्ष शिक्षण-शिविर होकर ही रहेगा। इस शिविर की विवरण-पत्रिका पहले ही तैयार हो चुकी थी। उसे अब प्रकाशित कर दिया गया और विद्यार्थियों के प्रवेश की तैयारियाँ होने लगीं। इस विस्तृत विवरण-पत्रिका में वैसे भी कुछ बातें उद्धृत करने योग्य हैं। इनसे इस शिविर के कार्य-संचालन पर प्रकाश पड़ेगा।

शिविर के उद्देश्य।

१—यह शिविर मण्डल की पंचवर्षीय योजना का प्रथम और प्रधान अङ्ग है। उसमें स्पष्ट निर्देश है कि व्रज-संस्कृति और साहित्य के संकलन और अध्ययन का कार्य उस समय तक विधिवत् नहीं हो सकता जब तक कि कार्यकर्त्ताओं को इस प्रकार के कार्य की वैज्ञानिक शिक्षा न दी जाय।

२—अब तक शोध का कार्य सार्वजनिक दृष्टिकोण से नहीं हुआ, न जनसाधारण ने उसमें कोई भाग ही लिया था। फलतः ग्राम-संस्कृति अभी तक अंधकार में पड़ी हुई है। उसको समझने वाले बहुत कम हैं। मण्डल का यह एक बिल्कुल नया प्रयोग है। इस शिक्षण शिविर के द्वारा वह संस्कृति और साहित्य के ज्ञान और शोध की वैज्ञानिक प्रणाली को साधारण जन सुलभ बना देना चाहता है। इस शिविर से शिक्षा पाने वाले व्यक्तियों के लिए ग्राम का कण-कण बोलने लगेगा।

३—ग्रामों के पुनर्निर्माण का यह युग है। इस पुनर्निर्माण में ग्रामों के सांस्कृतिक उत्थान पर ही ग्राम जीवन का सुख निर्भर करता है। उसे जबतक भली प्रकार न समझ लिया जायगा, तब तक उसके उत्थान में सहयोग कैसे दिया जा सकता है। यह शिविर उसी सांस्कृतिक उत्थान के लिए उद्योग करेगा।

इसके अनन्तर विविध नियमोपनियमों का तथा शेष व्यवस्था का उल्लेख किया गया था।

शिविर में प्रवेश

१—शिविर में कोई भी व्यक्ति शिक्षा पाने के लिए दाखिल हो सकता है, पर —

२—उसकी योग्यता कम से कम हिन्दी मिडिल की होनी आवश्यक है।

३—यह आवश्यक है कि वह अपना आवेदन पत्र भेज कर प्रधान अध्यापक से स्वीकृति प्राप्त करलें।

शिविर में निवास

१—शिविर के प्रत्येक विद्यार्थी को शिविर में ही निवास करना होगा। विशेष दशा में प्रधानाध्यापक को अधिकार है कि इस नियम के रहते हुए भी वह कुछ को बिना शिविर में निवास किए ही शिक्षा में भाग लेने की अनुमति दे दें।

२—शिविर में निवास करने वाले शिक्षार्थियों को शिविर नियमों का शान्ति से पालन करना पड़ेगा।

३—शिविर के प्रधान नियम यह हैं—

(अ) कोई भी शिविर का सदस्य निवास के मुख्याधिष्ठाता की आज्ञा बिना शिविर छोड़ कर नहीं जा सकेगा।

(आ) शिविर का कोई भी निवासी अपने पास धन या आभूषण बिना मुख्याधिष्ठाता की आज्ञा के नहीं रख सकेगा। सब से अच्छा यह होगा कि ऐसी वस्तुएँ मुख्याधिष्ठाता के पास जमा करा दी जायें।

(इ) शिविर का कार्य-क्रम एक बोर्ड पर लगा दिया जाता रहेगा। सारा कार्य उसी के अनुसार होगा। उसमें कोई ढिलाई नहीं की जायगी। प्रत्येक कार्य ठीक समय पर आरम्भ हुआ करेगा।

(ई) प्रत्येक कार्य में प्रत्येक सदस्य को भाग लेना होगा।

(उ) चित्त की साधारण से साधारण अस्वस्थता की सूचना तुरन्त मुख्याधिष्ठाता को दी जानी चाहिए।

(ऊ) शिविर का साधारणत यह कार्यक्रम रहेगा —

प्रातः—४-३०	जागरण, शौचादि
५-०	व्यायाम–सामूहिक प्रार्थना
५-२०	विराम
५-३०	स्नानादि
५-५०	विद्यापीठ प्रस्थान की तैयारी, कलेवा
६-०	विद्यापीठ-अध्ययन
११-०	विराम
११-१५	भोजन
१२-०	विश्राम
१-०	निज-व्यवस्था
१-३०	स्वाध्याय, नोट्स लिखना
३-०	पुस्तकालय, कला-भवन
४-०	विद्यापीठ
५-३०	खेलकूद
६-१५	स्नान
६-३०	भोजन
७-१०	टहलना
८-०	गोष्ठी–मनोरंजन तथा चर्चा
९-४५	विशेष सूचनाएँ
१०-	शयन

इस कार्यक्रम में जो परिवर्तन हुआ करेगा वह यथा समय बता दिया जाया करेगा।

(ए) शिविर में ही औषधालय, पुस्तकालय, वाचनालय आदि रहेंगे।

(ऐ) निवास में भोजन शुल्क का अनुमान २०) प्रति व्यक्ति है। यह रुपया आवेदन-पत्र के साथ भेज देना होगा ।

विद्यापीठ।

५—शिविर मे शिक्षा व्यवस्था प्रधानाध्यापक की देख रेख मे होगी।

६—शिविर का यह क्रम रहेगा।

(अ) ६ बजे सभी विद्यार्थी एकत्रित हो जायेंगे। कलाकार उस व्याख्यान सम्बन्धी वस्तुएँ क्रमशः यथा स्थान जमायेगा

और प्रत्येक वस्तु की व्याख्या करता जायगा।

(आ) ६-७५ पर प्रधानाध्यापक विषय का संक्षिप्त परिचय देगा और व्याख्याता का परिचय देगा।

(इ) ७—मुख्य व्याख्यान।

(ई) १०–प्रधानाध्यापक के साथ विषय पर विद्यार्थियों का विचार विमर्श। शङ्काओं का प्रश्न रूप में निश्चित करना। [ये प्रश्न व्याख्याता महोदय के पास भेज दिये जायेंगे।]

(उ) १–३० से ४ तक स्वाध्याय तथा पुस्तकालय उपयोग प्रधानाध्यापक, पुस्तक प्रबन्धक तथा कलाकार के निरीक्षणार्थ होगा।

(ऊ) ४–५ ३० तक व्याख्याता महोदय शकाओं का निवारण करेंगे।

७—ये व्याख्यान पहले से तय्यार होकर आ जायेंगे। प्रश्नों के उत्तरों को लिखने के लिए एक शीघ्र-लिपि जानने वाला रहेगा, जो व्याख्याता के प्रत्येक उत्तर को लिखेगा। ये उत्तर भी मूल व्याख्यान के परिशिष्ट की भाँति छपवा दिए जायेंगे।

८—यह उद्योग किया जायगा कि व्याख्यान पहले से मुद्रित रहे। जो विद्यार्थी व्याख्यान लेना चाहेंगे, उन्हें मूल्य देकर वे व्याख्यान मंडल से मिल सकेंगे।

९—शिविर में पन्द्रह दिन के लिए निम्नलिखित प्रोग्राम निश्चित किया गया है। यह ता० ७ सितम्बर सन् ४७ से आरम्भ होगा।

कार्य-क्रम।

प्रथम दिवस–१ उद्घाटन।
२ नृतत्व (व्याख्यान)

द्वितीय दिवस–प्रधान व्याख्यान विषय—'जनपदीय अध्ययन की ओर'

तृतीय दिवस–विषय ब्रज की कला (ग्राम तथा नागरिक) स्थापत्य मूर्ति, चित्र, नृत्य, सङ्गीतादि।

चतुर्थ दिवस–विषय–ब्रज का इतिहास।

पंचम दिवस–विषय–ब्रज साहित्य का इतिहास।

छठवा दिवस–विषय–ब्रज में हस्तलिखित ग्रन्थों की शोध के नियम।

सातवाँ दिवस–विषय–व्रज का मानव-विज्ञान।
आठवाँ दिवस–विषय–लोक वार्ता उसका महत्व, अध्ययन तथा संकलन (व्रज को ध्यान में रखकर)।
नवम् दिवस–विषय–लोक धर्म, रीति रिवाज उत्सव तथा संस्कार।
दसवाँ दिवस–विषय–ग्राम गीत, छन्द तथा वस्तु ?
ग्यारहवाँ दिवस–ग्राम यात्रा।
बारहवाँ दिवस–विषय–व्रजभाषा और व्रज में लिपियों का विकास।
तेहरवाँ दिवस–यात्रा।
चौदहवाँ दिवस–विषय–व्रज की संस्कृति का पुनर्निर्माण (मानवेतर भाग)।
पन्द्रहवाँ दिवस–विषय–व्रज संस्कृति का पुनर्निर्माण (मानव-सम्बन्धी)
सोलहवाँ दिवस–विषय–साहित्य और संस्कृति के शोध का महत्व तथा दीक्षान्त संस्कार।

१०—दो यात्राओं का प्रबन्ध किया जायगा। ये प्रबन्ध प्रधानाध्यापक के परामर्श से होगा।

११—दीक्षान्त के समय शिविर-शिक्षार्थी को मण्डल की ओर से प्रमाण-पत्र प्रदान किया जायगा।

व्याख्यानदाता—सभी विषयों के लिए विविध विद्वानों से पत्र-व्यवहार हुआ। प्रायः सभी विद्वानो ने इस कार्य की सराहना करते हुए भाषण देना स्वीकार किया। उन विद्वानों की लिखित स्वीकृति आने पर विषयो के अनुसार यह कार्य-क्रम रहा।

१—जनपदीय अध्ययन की आँख—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल एम० ए०, डी० लिट्, सुपरिंटैंडैंट म्यूजियम्स, दिल्ली।

२—व्रज की कला—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी एम० ए० क्यूरेटर, मथुरा। म्यूजियम, मथुरा।

३—श्री मदनमोहन नागर एम० ए० क्यूरेटर प्राविंशियल म्यूजियम, लखनऊ।

४—व्रज-साहित्य का इतिहास—श्री० प्रकाशचन्द्र गुप्त एम० ए०, प्रोफेसर अँग्रेजी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

५—व्रज मे हस्तलिखित ग्रन्थो की शोध के नियम—श्री० भास्कर

रामचन्द्र भालेराव, नायब सूबा, मुरैना (ग्वालियर)

६—मानव विज्ञान—श्री कृष्णानन्द गुप्त, सपादक—लोकवार्त्ता, टीकमगढ़।

७—ब्रज के लोक गीत—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, लोक-गीत-सग्रह-विशेषज्ञ।

८—लोक गीतों के छन्द कथा वस्तु—श्री रामइकबालसिंह राकेश भदैनी (विहार)

९—ब्रज में ऐतिहासिक लिपियों का विकास—श्री कृष्णाचार्य एम० ए० साहित्य-रत्न, काशी।

१०—हस्तलिखित ग्रन्थों की लिपिया का विकास—श्री उमाशकर शुक्ल हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

११—ब्रज की सस्कृति का पुन निर्माण(मानवेतर भाग)—प० श्रीराम-शर्मा, सम्पादक—विशाल भारत, कलकत्ता।

१२—ब्रज की सस्कृति का पुन निर्माण (मानव-सबधी)—बाबू गुलाब-राय एम० ए०, सपादक—साहित्य सन्देश, आगरा।

इस प्रकार विद्यापीठ की पूरी तैयारी हो गई।

विविध जिला बोर्डों को लिखा गया कि वे पॉच-पॉच विद्यार्थी इस शिविर में भाग लेने के लिए भेजें। इसमें निम्न लिखित विद्यार्थी विविध बोर्डों और क्षेत्रों से इस शिविर म सम्मिलित हुए।

आगरा	१ ग्यासीराम शर्मा	मिढाकुर
	२ कन्हैयालाल सारस्वत	अछनेरा
	३ श्यामलाल	नामनेर
	४ गङ्गाधर जैन	मिढाकुर
इटावा	१ दर्शनसिंह	लखना
	२ रामनाथ	अन्दिल
	३ बाबूलाल शर्मा	सरथना
	४ रघुवरदयाल मि र	इटावा
मथुरा	१ शिवलाल शर्मा	कोसीकलाँ
	२ चिरंजीलाल शर्मा	बरचावली
	३ शिवचरनलाल शर्मा	नौहझील
	४ मौयलसिंह अमार	राया
	५ पातीराम	अकबरपुर

६ रामस्वरूप शर्मा — सुरीर
७ गौरीशङ्कर — बरसाना
८ पुरुषोत्तमलाल — बरसाना
९ प्रभुदयाल गोस्वामी — नन्दगांव

अब कुछ अन्तिम निर्णय और करने थे। किस स्थान पर हो। कौन उद्घाटन करें ? कौन दीक्षान्त भाषण दें ?

इस सम्बन्ध से निम्नलिखित प्रबन्ध हुआ:—

स्थान—गीतामन्दिर, मथुरा।

उद्घाटन—खाद्य-मन्त्री—डा० राजेन्द्र प्रसाद, सभापति विधानपरिषद् तथा केन्द्रीय सरकार।

दीक्षान्त—श्री सम्पूर्णानन्दजी शिक्षा-मन्त्री, युक्तप्रान्त।

यथासमय गीतामन्दिर से शिक्षण-शिविर का कार्यालय स्थापित हो गया, तथा सभी विद्यार्थी अपने अपने स्थानों से आगये। ता० ७ भी आगयी। मण्डल ने उद्घाटन की भी विशद् तैयारियों कर डालीं। विशाल पंडाल बन गया।

स्वागत समिति—शिक्षण-शिविर के उत्सवों और अतिथियों का स्वागत-सत्कार करने के निमित्त एक स्वागत समिति बना दी गई थी। इसका निर्माण इस प्रकार था।

१—श्री शाह गौड़शरण, वृन्दावन, स्वागताध्यक्ष।
२—श्री दानबिहारीलाल शर्मा वृन्दावन, स्वागतमन्त्री।
३—श्री शर्मनलाल अग्रवाल, सा० स्वागतमन्त्री।
४—श्री रामप्रसाद पोद्दार दिल्ली, स्वागताध्यक्ष दीक्षान्त-संस्कारोत्सव।
५—श्री सत्येन्द्रजी
६—श्री सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव।
७—श्री प्रभूदयाल मीतल।
८—श्री रामनारायन अग्रवाल।
९—श्री लज्जाराम ललाम।
१०—वाजपेयी।

विद्यापीठ और शिविर के कार्यकर्त्ता—शिविर और विद्यापीठ के कार्यकर्त्ता इस प्रकार नियुक्त किये गये।

आचार्य विद्यापीठ—श्री सत्येन्द्र एम० ए० ।
शिविर अधिष्ठाता—श्री शर्मनलाल एम० ए०, एल० एल० बी०, साहित्य-रत्न ।
अतिथि विभाग —श्री रामनारायण अग्रवाल साहित्यरत्न, हिन्दी प्रभाकर ।
यात्रा-सयोजक —श्री सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव एम० ए०, एल० टी०
साहित्य निवेदक —श्री कृष्णदत्त वाजपेयी एम० ए० ।

एक महान दुर्घटना सब तैयारियाँ हो चुकी थीं। सभी उत्सुकता से दिल्ली से देशरत्न डा० राजेन्द्रबाबू के आने की बाट जोह रहे थे कि समाचार मिला कि दिल्ली में भीषण साम्प्रदायिक दङ्गा उठ खड़ा हुआ है। सारे देश की परिस्थिति एकदम बदल गयी। इस क्षण पर जिस बात की आशंका नहीं थी वह हो गयी और 'शिविर' के कार्य-क्रम में बड़ा व्याघात पहुँचा । ट्रेनों से यात्रा करना कठिन हो गया। जीवन का भय घिर आया। सब दिशाओं से सम्बन्ध विच्छेद हो गया ।

फिर भी मण्डल ने साहस पूर्वक शिविर के कार्य को व्यवस्था और योग्यता से सम्पादित कर ही डाला। आये हुए विद्यार्थियों को लौटा देने की बात कभी ग्राह्य नहीं हो सकती थी।

जिस रूप में और जिस प्रकार यह कार्य सम्पादित हुआ, यह आगे प्रति दिन के विवरण से ज्ञात होगा। आगे के विवरण में विद्यार्थियों को दिये गये भाषण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

एक बात और। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का जिज्ञासुदलों में विभाजित कर दिया गया था। उन्होंने कुछ कार्य किया, उसका भी संक्षिप्त विवरण इसमें दिया जा रहा है।

आगे के विवरण में यह क्रम है—

१—आचार्य द्वारा पूर्व-पीठिका ।
२—व्याख्यान ।
३—गोष्ठी ।
४—प्रकृति अध्ययन ।
५—यात्रा विवरण ।

इस विवरण में विद्वत्-समाज तथा साधारणजन सभी के योग्य सामग्री मिलेगी। शिविर से केवल उसमें सम्मिलित होने वाले विद्यार्थी ही लाभ उठा सके थे, इस प्रकाशन से सभी लाभान्वित होंगे ऐसा विश्वास है।

सात सितम्बर

व्रज-संस्कृति और शिक्षण-शिविर

[स्वागताध्यक्ष शाह श्री गौरशरण गुप्त बी० ए०, एल० एल० बी० एडवोकेट का स्वागत-भाषण। ता० ७ सितम्बर १६४७ को शिविर के उद्घाटन-उत्सव पर दिये जाने के लिए लिखा हुआ भाषण]

❀ श्री हरिः ❀

श्रद्धेय सभापति जी, सज्जनो और देवियो !

भगवान कृष्ण की इस पुण्य क्रीड़ास्थली व्रजभूमि में, जिसके करील कुञ्जों मे आज भी भक्तजन 'मैया मैया टेर कर' 'गैयों को बुलाते' हुए गोपाल कृष्ण का दर्शन करते हैं, मैं आप सबका विनम्र भाव से स्वागत करते हुए अपने को कृतकृत्य मानता हूँ। आतिथ्य और शिष्टाचार की व्रजभूमि मे और व्रजवासियों से—जहाँ काँटेदार कुञ्ज, खारी-जल, बोलने मे गारी अनायास ही मिलती है, अपेक्षा न करना ही उचित होगा—फिर भी आडम्बरहीन वनवासियों की प्रेमाञ्जलि-स्वरूप खुले हृदय का हमारा यह अबोध-स्वागत आप कृपाकर स्वीकार करेंगे, ऐसी मुझे आशा है।

सज्जनो ! भारतीय संस्कृति के इस प्राचीनतम केन्द्र का ऐतिहासिक एवं धार्मिक महत्व वर्णन करने मे मै आपके अमूल्य समय का असामयिक उपयोग करने की चेष्टा नहीं करना चाहता। हमारे पुराण, शास्त्र तथा श्रीमद्भागवत् जैसे महान् धार्मिक-ग्रन्थ इसके गुणानुवाद के अथाह सागर हैं, जिसका पार पाना असाध्य जानकर बड़े विद्वानो ने भी उनमें जी भर कर गोते लगा लेने में ही अपने जन्म की सफलता निहित मानी है। पुण्य सलिला गङ्गा और यमुना के इसी अंक में अनादि काल से उस भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति, भारतीय कला और स्वयं भारतीयता का जन्म और सूत्र-संचालन होता आया है। जिसके गौरव को कभी सम्पूर्ण विश्व ने

नतमस्तक होकर स्वीकार किया और जिस के शिष्यत्व से गौरवान्वित होकर अन्य देशों को सभ्यता और मनुष्यता का पाठ पढाया।

किसी भी देश को जीवित, स्वस्थ और अमर रखना साहित्य का काम है। साहित्य समाज को मानसिक भोजन देता है। नैतिक दृष्टि से उसे पुष्ट बनाता है, सकट के समय अपनी रक्षा करने की सामर्थ्य देता है, उन्नति के मार्गों का निर्देश करता है और सब प्रकार से समाज को सफल, सबल, समर्थ और सुसम्पन्न बनाता है। समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये साहित्य का सृजन एव सरक्षण अत्यन्त आवश्यक है। अत साहित्यिक सस्थाओं का जो साहित्य के सृजन और सरक्षण का कार्य करती हैं अथवा उन कार्यों मे सहयोग या सहायता देती हैं, उनका समाज मे अपना विशिष्ट स्थान है, विशिष्ट महत्व है। इस दृष्टि से हमारे ब्रज साहित्य मण्डल के सामने समाज के उत्थान का, उसकी सेवा का और उसकी उन्नति का जो गुरुतर कार्य है वह महान् होने के साथ साथ इतना विस्तृत भी है कि बालक से लेकर बूढे तक, विद्वान से लेकर अपढ मजदूर तक, राजा से लेकर रक तक सब की सेवाए उसमे खप सकती हैं और फिर भी कार्य बचा रह सकता है।

भारतीय साहित्य मे ब्रजभाषा का साहित्य भारतीय खजाने के अमूल्यतम रत्नों की वह पिटारी है जिसका मूल्य आंकना तो दूर रहा—समझना भी, ससार के साहित्यिक पारखियों के लिये अभी टेढी खीर बना हुआ है। विद्यापति से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक के लेखकों, कवियों, गायकों और नाट्यकारों पर आज तक न जाने कितने साहित्य की शोध करनेवालों ने डाक्टरेट प्राप्त करली है—फिर भी वे अमर साहित्यकार साहित्य के विद्यार्थियों के लिये ब्रह्म के रूप की तरह अभी तक रहस्य ही बने हुए हैं। सूर के एक एक पद पर ग्रन्थ के ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं फिर भी पद का पार नहीं मिलता—जितना ही घिसा जाता है उतना ही उज्ज्वल निकलता है। विद्यापति की पदावलि में नित्य नया आकर्षण मिलता है। कबीर की फटकारें अभी तक कँपा देती हैं। भूषण के कवित्त आज भी मुर्दा नसों मे खून खौला देते हैं। बिहारी का चमत्कार अब भी चकाचौंध पैदा कर देता है। मतिराम, केशव, देव सैकड़ों बरस के पुराने होकर भी आज तक फीके

नहीं पड़े हैं। क्या संसार के अन्य देशों का साहित्य भारतीय ब्रजभाषा साहित्य की तुलना कर सकेगा ? संभवतः अकेले तुलसी या सूर पर सारे संसार के साहित्यिकों को वारा जा सके।

सज्जनो ! ब्रजभाषा का साहित्य वह अपार सागर है, जिसके अनेक ग्रन्थ रत्न खोज निकाले जा चुके हैं फिर भी उनसे कहीं अधिक अभी किन्हीं अँधेरी कोठरियों में छिपे पड़े हैं, जिनके लिये परिश्रमी गोताखोरों की आवश्यकता है। ऊपर जिन भक्त एवं आचार्य कवियों के नाम उदाहरण मात्र के लिये दिये गये हैं उनकी भी अनेक अमर कृतियाँ अभी तक हमारी आँखों के सामने नहीं आ पाईं—अनेक अज्ञातनामा कवियों के ग्रन्थ हस्तलिखित पोथियों के रूप में दीमकों के भोजन का काम दे रहे हैं—आये दिन रद्दी के नीलाम में ऐसी सुन्दर हस्त-लिखित पोथियाँ मिल जाती हैं, जिनके एक एक पद पर एक एक पृष्ठ पर एक नई थीसिस लिखी जा सकती है। यह सब हमारी साहित्यिक अरुचि या अयोग्यता या अजीर्णता ही कही जा सकती है। इस विकार का हमें उपचार करना है। हमारी साहित्य परिषदें और साहित्य मंडल उपचार के वे अस्पताल हैं जिन्हें हमें आधुनिक साधनों से सुसज्जित करना है, जिनमें योग्य एवं अनुभवी चिकित्सकों का आयोजन करना है, जिनके लिए सुसम्पन्न प्रयोगशालाओं की व्यवस्था करनी है। सज्जनो ! आज हम जिस शिविर का आयोजन करने जा रहे हैं वह इन्हीं चिकित्सागृहों के कार्यकर्ताओं का ट्रेनिंग कैम्प है। कृपया आशीर्वाद दीजिये कि ये हमारे नये चिकित्सक अपने कार्य में सफल होकर समाज और साहित्य का कल्याण करें।

सज्जनो !

ब्रज साहित्य मण्डल के सुयोग्य कार्यकर्ताओं या ब्रज साहित्य के समृद्ध महारथियों को मैं कोई परामर्श दूँ या उनको मार्ग निर्देश करने की धृष्टता करूँ तो यह मेरी अनधिकार चेष्टा होगी। फिर भी ब्रजभाषा और ब्रज साहित्य के विषय में दो शब्द कहना असामयिक न होगा।

ब्रजभाषा के माधुर्य की कोई आज भी उपेक्षा करने का साहस नहीं करता। उसका सहज स्वाभाविक शब्द विन्यास कानों में अमृत सा बरसाने वाला आडम्बरहीन सरल उच्चारण-हृदय पर सीधा प्रभाव

करनेवाली भाव व्यजना अभी तक दूसरी भावनाओं को प्राप्त नहीं हुई। आज भी ब्रजभाषा से अनभिज्ञ ब्रज की यात्रा करनेवाला दर्शक ब्रज-नारियों की लडाई म भी सगीत का आनन्द लेता है। कचहरियों के अग्रेज हाकिम भी कभी कभी किसी अहीर का बयान लिखते समय किसी शब्द विशेष की भाव व्यजना ब्रजभाषा की सरलता एव सरसता पर मुग्ध हो उसका रसास्वादन करते देखे गए हैं। जरा रथ के मेले पर वृन्दावन आने का कष्ट कीजिये, ब्रज के गूजर, अहीर, जाट आदि बिना पढे लिखे नरनारियों के गीतों में आप भाषा विज्ञान की अनेक गुत्थियाँ सुलझाने में समर्थ हो सकेंगे। मैं मानता हूँ कि उसके शब्द खडीबोली के शब्दों की तरह डाइमण्ड कट नहीं हैं, फिर भी उसका स्थान आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है, यह शायद आपको स्वीकार करना ही होगा। यद्यपि पिछले लगभग १००० वर्षों के सघर्ष और परिवर्तनों के अनवरत आँधी तूफानों का ब्रज-भाषा के शब्दों पर प्रभाव पडा—वे घिसे हैं—तोडे मरोडे भी गये हैं—फिर भी उनका रूप विकृत नहीं हुआ—उनके वजन में कमी नहीं आई, आज भी वे उतने ही भारी भरकम बने हुए हैं जितने हजार वर्ष पहले थे। इससे उस धातु के मूल्य का हमें अनुमान होता है जिसके वे बने हुए हैं। सज्जनो! यदि मैं इस स्थल पर ब्रजभाषा से शब्दों को लेकर उनकी तुलना खडी बोली और दूसरी देशी या विदेशी भाषाओं के शब्दों से कर ब्रजभाषा की श्रेष्ठता दिखाने का प्रयत्न करूँ, तो मुझे भय है कि भाषण का कलेवर बहुत बढ जायगा और शायद यह आपके अमूल्य समय पर आघात हो। इसलिए इस विषय को मैं यहीं छोडता हूँ।

सज्जनो!

ब्रजभाषा और ब्रज-साहित्य का नाम सुनते ही प्राय लोगों को अश्लीलता का नाम लेकर उसी तरह नाक-भौं सिकोडते देखा है जिस तरह आजकल के राजनैतिक कार्यकर्त्ता धार्मिक चर्चाओं म साम्प्रदायिकता से चौंकते हैं। फिर भी एक बात नम्रता-पूर्वक मैं आपसे धीरे से कहदूँ, कि हमारे राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के हृदय मे धार्मिक भावनाएँ किसी अन्तरतम स्थान में बैठी उसी प्रकार पनपती रहती हैं जिस प्रकार अश्लीलता के नाम पर चौंक पडने वालों के हृदय म किसी

एकान्त स्थान में बैठकर उसका अध्ययन करने की लालसा छिपी रहती है। क्या आप कह सकते हैं कि आपके बार बार आदर्शवाद की दोहाई देने पर भी बिहारी को एक छोटा सा दोहा या मतिराम का सवैया आपके हृदय मे गुदगुदी पैदा नहीं करता ? यदि ऐसा होता है तो कवि अपने कर्त्तव्य मे सफल होगया और उसकी कला सार्थक होगई फिर उसे दोष क्यो ?

एक बात और हमारे देश की संस्कृति और सभ्यता आज से नहीं अनादि काल से शृङ्गार-प्रिय रही है। भारतीय-सौन्दर्य टॉइलैट्स के साधनो से नहीं, प्रकृति के दान से सर्वोपम रहा है। फिर कवि, शब्दों का चित्रकार कवि यदि उस ईश्वरीय सौन्दर्य से अनभिज्ञ होकर कोई आदर्शवादी कृत्रिम चित्र बनाता है, तो वह कला की ही हत्या नहीं करता, इसकी संस्कृति और सभ्यता के प्रति भी ग़दारी करता है, जो न क्षमा के योग्य है, न वांछनीय है। गोस्वामी तुलसीदास के "बहुरि बदन विधु अंचल ढॉकी—पिय तन चितै भौंह करि बॉकी। खंजन मञ्जु तिरीछे नैननि। निज पति करेहु तिन्हहिं सिय सैननि।" वर्णन में अश्लीलता से घबराकर यदि कोई आदर्शवादी कवि "शुभे तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ है" का उत्तर "गोरे देवर श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ है।" में देकर सीता के शील को सुरक्षित रखता है, तो वह आज के बनावटी आदर्शवाद की रक्षा भले ही करले, भारतीय संस्कृति के स्त्रियोचित शील और संकोच की हत्या अवश्य करता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि माता सीता पुरातन भारतीय संस्कृति की प्रतीक नहीं, वे बीसवीं शताब्दी के किसी इंगलिश होटल की सम्भ्रान्त सदस्या हैं जो एक हाथ में कुत्ते की जंजीर पकड़े हुए ग्राम-बालाओ से कह रही हैं— "Hullo Ladies, here is my husband Mr." Ram, and he his younger brother Mr. Lakshman" इस वर्णन में शब्द-लाघव भले ही हो, किन्तु भारतीय शील और संकोच तो हमे तुलसी की पंक्तियो मे ही मिलेगा।

मुझे खेद है कि मै, आज के प्रतिनिधि कवि के वाक्यो की आड़ में लोक प्रवृत्ति पर एक कड़वा आक्षेप कर गया हूँ—आशा है आप विद्वान् महानुभाव मुझे इस अनधिकार चेष्टा के लिये क्षमा कर देंगे। मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि व्रजभाषा साहित्य शृंगारमय होने

के कारण उसकी एकदम उपेक्षा नहीं की जा सकती। श्रीमद्भागवत जो संस्कृत के सर्वोत्कृष्ट विद्वानों की परीक्षा की एकमात्र कसौटी है, शृंगार से लबालब होने पर भी हमारी आराधना का ग्रन्थ है, इसमें कभी दो राय नहीं हो सकतीं। धर्म से उदासीन कट्टर से कट्टर व्यक्ति भी किसी ईश्वरीय प्रेरणा से ही कहिये श्रीमद्भागवत के लिए एक बार तो अवश्य ही सिर झुका देता है। राधा और कृष्ण का शृंगार जो ब्रज-भाषा का प्रधान विषय रहा है—मेरा विश्वास है अभी तक किसी शास्त्रार्थ या वादविवाद से अवाञ्छनीय नहीं घोषित हुआ। भक्ति का प्रेम-दर्शन अंग स्वतः इतना अगाध और अथाह है कि उसका कठोर आलोचक, ब्रज की किसी रासलीला मे कितना ही कठोर बन कर क्या न बैठे जब नृत्य करती हुई राधा भगवान् कृष्ण के अंक म तेजी से गिरेंगी—कठोर आलोचक अवश्य ही एक बार तो 'बलिहारम बलिहार' कह ही जायगा—भले ही अपनी कट्टरता का ध्यान कर बाद मे इधर उधर देखने लगे। यह भारतीय संस्कृति का स्वाभाविक सत्य है जिसकी उपेक्षा आज हम अपने हृदय से नहीं बाहरी दिखावे के कारण करते हैं।

ब्रज साहित्य मे शृङ्गार है केवल इसी अभियोग पर हम सूर, रसखान, मीरा जैसे भक्त गायकों को निर्वासन की सजा सुनावें, यह कहाँ तक न्याय संगत होगा मैं नहीं कह सकता। मैं तो बिहारी मतिराम जैसे मध्ययुग के शृङ्गारी कवियों में भी जब चमत्कार और रस जैसे कवित्व के प्रधान अंगों को देखता हूँ तो उनकी कला पर मुग्ध होजाता हूँ। फिर कला को उपयोगिता की स्थूलता से तो नहीं तोला जा सकता। एक नंगे धड़ंगे आदमी का चित्र भी किसी चित्रकार की कारीगरी का अमर नमूना हो सकता है इसे हम क्यों भूल जाते हैं। घोर शृङ्गारी या अश्लील कहे जानेवाला शृङ्गारी काव्य भी कवि के कवित्व की सफलता प्रमाणित कर सकता है इसे कौन नहीं जानता। 'कला कला के लिये' वाला वाक्य चाहे आज के स्थूल पदार्थवादी युग म भावुक भले ही कह जाय, है सत्य और कठोर सत्य। सज्जनो! जैसा मैंने आपसे पहले नि॰न किया अभी हमारे ब्रज सा॰ि॰य के अनेक रत्न जगह जगह छिपे पड़े हैं। कुछ हस्तलिखित प्रतियों के रूप मे, कुछ ग्राम्यगीत तथा अन्य ग्रा साहित्य के रूप मे, कुछ मन्त्र रागियों के रूप मे और कुछ इस प्रकार के दूसरे दूसरे रूपों म। हमें उन सब को खोजना है, उन्हें साफ

और परिष्कृत करना है और फिर उनके मूल्य और महत्व के अनुसार उनका स्थान निश्चित कर उन्हें साहित्यिक प्रदर्शिनी मे रखना है। इस अत्यन्त आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य के लिये जहाँ एक ओर प्रचुर धन-राशि की आवश्यकता है, वहाँ दूसरी ओर अनुभवी लगनवाले कार्यकर्त्ताओं की भी जरूरत है, जो इस कठोर कार्य की प्रारम्भिक असफलता और शुष्कता से हतोत्साह न होकर धैर्यपूर्वक अपने कर्त्तव्य पर बढ़े चले जायँ; इस साहित्य-सागर में एक-दो बार, सौ-दोसौ बार नहीं हजारों लाखों बार गोते लगाये और लगाते रहें, उस समय तक जब तक कि वे संसार के सामने कोई अमूल्य रत्न रखने मे सफल न हों। ईश्वर उन्हें अवश्य उनके कार्य में सफलता देगा।

व्रज का साहित्य आज भी नीरस नहीं है। व्रज में आज भी अपनी कलाएँ हैं। रासलीलाएँ आज भी व्रज की नाट्यकला को जीवित रखे हैं—मन्दिरों की साँझियाँ आज भी चित्रकला के अनुपम नमूने हैं—फूल-बंगले और मनोमुग्धकारी मूर्तियाँ आज भी वास्तुकला और मूर्तिकला को सजीव बनाये हुए हैं। यह सब कलाएं—सब ललितकलाएँ व्रज में और व्रज के केन्द्रतम मथुरा और वृन्दावन में प्रायः अनायास ही देखी जाती है—इन कलाओं के कलाकार कभी कभी तो निरक्षर भट्टाचार्य भूखे-प्यासे मजदूर होते है। मै चक्रवर्त्ती नामक वृन्दावन के अर्धविक्षिप्त एक कांग्रेस वालण्टियर को जानता था जिसने गन्दे नाले में डूबते हुए एक हरिजन को बचाने में अपने प्राणों का बलिदान दे दिया था। यह भूखा बंगाली 'साँझी' बनाने की कला मे अद्वितीय था। आज भी छोटी छोटी झोंपड़ियों मे आपको वे कुशल कलाकार मिल जायेंगे जिनकी छैनी मे पत्थर को जीवन प्रदान करने की शक्ति है। किन्तु आज हमे उनकी खोज करनी है और उनके मिल-जाने पर उनकी और उनकी कला की रक्षा करनी है।

आल्हा और ढोला जैसे मशहूर ग्रामीण प्रबन्ध-काव्य पुराने हो गये हैं इसमे सन्देह नहीं। किन्तु इन प्रबन्ध काव्यों ने कितने ही अपढ़ ग्रामीण कवियो को जन्म दिया है, इसका अनुभव आपको तब होगा जब आप व्रज के किसी गाँव में जाड़े के दिनों मे अलाव पर बैठकर शोभाराम या हरिफूला के प्रबन्ध काव्यों मे से ढपली पर एक-दो भजन सुनें। आप बाग़ बाग़ होजायेंगे। आत्मा प्रसन्न हो जायगी। कहने

लगेंगे कि वास्तव में ब्रज में कविता की कोई स्वाभाविक हवा ही चलती है। तब आपको लोहवन के बुड्ढे रामदयाल जी की गर्वोक्ति 'कविताई माता हमें गर्भ में सिखाती है।' सच मालूम पड़ेगी। आज भी ब्रज के मेलों में 'शिवराम जाजरो गाम' के गीत ब्रज के ग्राम्य कवि का नाम अमर किये हुए हैं।

सज्जनो! आज का यह शिविर कोरे साहित्य के अन्वेषकों का ही शिविर नहीं, यह संस्कृति और कला के अन्वेषकों और स्वयंसेवकों का शिविर है। भारत की प्राचीनतम संस्कृति—ब्रज संस्कृति का सन्देश आज फिर हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और अटक से लेकर कटक तक ही नहीं, उत्तरी ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक और जापान से लेकर ब्रिटेन तक भेजना है। कृपया इन कार्यकर्ताओं की तन से मन से और धन से सहायता कीजिये और इनकी सफलता के लिये आशीर्वाद दीजिये।

एक बार फिर मैं नम्रतापूर्वक अपनी ओर से, ब्रज-साहित्य-मण्डल की ओर से और इस शिविर की स्वागत समिति की ओर से आप सब का हृदय से स्वागत करते हुए और आपकी कृपा और अनुग्रह के लिये आभार प्रदर्शित करता हूँ।

शाह गौरशरण गुप्त

जनपदीय अध्ययन की एक आँख

[डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल एम० ए०, पी-ऐच० डी०, डी० लिट्०, सुपरिण्टेण्डेट म्यूजियम्स, नई दिल्ली]

भारत जनपदो का देश है। ग्रामों के समूह जनपद हैं। गाँवों और जनपदो का ताँता हमारे चारों ओर फैला हुआ है और इस भूमि के अधिकांश जन गाँवों और जनपदो मे ही बसे हुए हैं। गाँव-बस्तियाँ हमारी संस्कृति की धात्री हैं। गाँव सच्चे अर्थों में पृथिवी के पुत्र हैं। गाँव के जीवन की जड़ें धरती का आश्रय पाकर पनपती हैं। गाँवों मे जन के जीवन को टिकाऊ आधार मिलता है। शहरों का जीवन उखड़ा हुआ जान पड़ता है। जनपदों का जीवन हजारों वर्षों की अटूट परम्परा को लिये हुए है। गाँवो मे जन की सत्ता है, नगर राजाओं की क्रीड़ा भूमि रहे है। जन की सत्ता और महिमा, एवं जन-जीवन की स्वाभाविक सरल निजरूपता जनपदों मे सुरक्षित है जहाँ बाहरी अंकुशो से जीवन की प्राण-दायिनी शक्ति पर कम से कम प्रहार हुआ है। जनपदीय जीवन स्थिति, शान्ति और अपनी ही मानस भूमि की अविचल टेक ढूँढता है। इसके विपरीत पुर का जीवन धूम-धाम के नये ठाट रचता है। दोनों के दो पथ है। इतिहास के उतार-चढ़ाव मे वे कभी एक दूसरे से टकराते हैं, कभी मेल ढूँढते हैं और फिर कभी एक दूसरे से परे हट जाते हैं। वैदिक काल से आज तक यही लहरिया गति चलती रही है। वैदिकयुग प्राथमिक भूसन्निवेश का समय था, जब गाँवों और जनपदों मे फैलकर जीवन के बीज बोये गए। बन और जङ्गल, नदियों के तट और संगम जीवन की किलकारी से लहलहा उठे। फिर साम्राज्यों का उदय हुआ और नन्द-मौर्य युग मे नगरो के केन्द्र प्रभावशाली बन बैठे। गुप्त युग मे नगर और जनपदों ने एक दूसरे के प्रति मैत्री का हाथ बढ़ाया। वह समन्वय का युग था, जनपदों ने अपने जीवन का मथा हुआ मक्खन पुरों की भेंट चढ़ाया और पुरो ने उपकृत होकर संस्कृति के वरदान से जनपदो को सँवारा। मध्यकालीन संस्कृति मे

* यह भाषण ता० ७ सितम्बर १९४७ को शिक्षण-शिविर के नियमित कार्य-क्रम में होना था।

पौर जानपद-जीवन की धाराएँ फिर एक दूसरे से हट गईं और जनपदों की अपभ्रंश भाषा और जीवन शैली प्रधान रूप से आगे बढ़ी। नगरों में गुप्तकालीन संस्कृति की जो थाती बची थी वह अपने आप में ही घुलती रही, जनपदों से उसे नया प्राण मिलना बन्द हो गया। अतएव मध्यकाल की काव्य कला और संस्कृति नगरों के मूर्छित जीवन के बोझ से निष्प्राण दिखाई देती है। पौर-जानपद समन्वय के युग में लिखे गए रघुवंश के पहले-दूसरे सर्गों में जितना जीवन है उसकी तुलना जब हम नैषधचरित और विक्रमांकदेव चरित काव्यों के वर्णनों से करते हैं तब हमें यह भेद स्पष्ट दिखाई पड़ता है। मुसलमानों के आगमन से जनपदों ने फिर अपने अङ्गों को कछुए की तरह अपने आप में समेट लिया और वे उस सुरक्षित कोष के भीतर समय काटते रहे। शहरों में परदेशी सत्ता जमी और उसने जीवन के ढाँचे को बदला। उससे आगे अँग्रेजों की संस्कृति का प्रभाव भी शहरों पर ही सबसे अधिक हुआ। गाँव अपने वैभव की भेंट शहरों को चढ़ाते रहे, गाँवों को निचोड़ कर शहरों का भस्मासुर आगे बढ़ता रहा। यह नियम है कि जब जन की सत्ता जागती है, तब जनपद समृद्ध बनते हैं, जब जन सो जाता है तब पुर विलास करते हैं। अतएव हमारे जीवन के पिछले दो सौ वर्षों में जनपदीय जीवन पर चारों ओर से लाचारी के बादल छा गये और उनके जीवन के सब स्रोत रुँध गये। आज फिर जनपदों के उत्थान का युग आया है। देश के महान कंठ आज जनपदों की महिमा का गान करने के लिए खुले हैं। देश के राजनीतिक संघर्ष ने ग्रामों और जनपदों को आत्मसम्मान, आत्म-प्रतिष्ठा और आत्ममहिमा के भाव से भर दिया है। पिछली भूचाली उथल पुथल और महान् आन्दोलन का सर्वव्यापी सूत्र एक ही पकड़ में आता है, अर्थात्—

'जानपद जन की प्रतिष्ठा'

आज तेईससौ वर्षों के बाद हमने प्रियदर्शी अशोक के शब्दों को कान खोलकर सुना है, और राष्ट्रीय उत्थान के लिए मूलमन्त्र की भाँति उन्हें स्वीकार किया है। राजाओं की विहार यात्राओं का अन्त करके उसने एक नये प्रकार की धर्म यात्राओं का आन्दोलन चलाया था जिन का उद्देश्य था—

'जानपदसा च जनसा दसने धमनुसथि च धम पलिपुछा च।'

अर्थात्, जानपद जन का दर्शन, जानपद जन के लिए धर्म का सिखावन, और जानपद जन के साथ मिलकर धर्म विषयक पूछ-ताँछ।

इन तीन प्रमुख उद्देश्यों के द्वारा सम्राट ने जनता के नैतिक और धार्मिक जीवन एवं आचार-विचारों मे परिवर्तन लाने का भारी प्रयत्न आरम्भ किया था। अशोक की परिभाषा के अनुसार सारा मानवी-जीवन जिन सामाजिक और नीति-नियमों से बँधा है, वे धर्म हैं। अतएव धर्म विषयक और आचार और विचारों को सुधार कर समस्त जन-समुदाय के जीवन को ऊपर उठाने की योजना अशोक ने की थी। उसके मन मे जब यह विचार आया होगा तब निश्चय ही उसका ध्यान देश की उस कोटानुकोटि जनता की ओर गया, जो सच्चा भारतवर्ष था। वह जनता गाँवो मे वसती थी। आज तेईस शताब्दियों का चक्र घूम जाने पर भी भारतमाता ग्रामवासिनी ही बनी हुई है। इसी ग्रामवासिनी गर्वीली जनता का दर्शन, सिखावन और परिपृच्छा (पूछ-ताँछ) जनपदीय अध्ययन का निचोड़ है। अपना ध्येय और उद्देश्य निश्चित करके अशोक ने एक पैर और आगे बढ़ाया—

'हे वं ममालजूका कटा जानपदस हितसुखाये येन एते अभीता अस्वथ संतं अविमना कंमानि पवतयेवूति।'

अर्थात्—उसने राजकर्मचारी नियुक्त किये जिनका कर्तव्य था कि जान पद जन का हित करें और उनके सुख की बढ़ती करें, जिससे गाँवों की जनता निडर और स्वस्थ होकर मन लगाती हुई अपने अपने कामों को कर सके।

अपने राष्ट्रीय जीवन मे अशोक की नीति को आज भरपूर अपनाने की आवश्यकता है। जनपद और ग्रामों का पुनः निर्माण, जीवन का अध्ययन और सच्चा ज्ञान हमें अपने पुनः निर्माण के लिये ही करना अनिवार्य है। ग्रामवासिनी जनता के कल्याण में ही हम सबका कल्याण छिपा हुआ है। उसके हित-सुख के विना हम सबका हित-सुख निहित है। जनपदीय अध्ययन देश की अपनी आवश्यकता की पूर्ति है। वह साहित्यिको का विनोद नहीं।

अब तक हमने विदेशियों से प्रीति या कुरुख करना सीखा है, हमने अपने आप से प्यार करना अभी तक नहीं सीखा। हमारी वर्तमान शिक्षा-दीक्षा, विचार और आचार की यह सबसे बड़ी आवश्यकता है कि हम अपने भूले हुए जीवन से फिर नाता जोड़ें, अपनी ही वस्तुओं और संस्थाओं से अनुराग का नया पाठ पढ़ें। अपने आपको जानने से जिस आनंद का जन्म होता है वह ही हमें अब जीवन के पथ में आगे बढ़ा सकता है। जनपदीय अध्ययन राष्ट्रीय कार्य-क्रम का हरावल दस्ता है। सब कार्यों से यह कार्य अपने महत्व और आवश्यकता में गुरुतर है। हमारी जनता के जीवन का जितना भी विस्तार है उस सबको जानने, पहचानने और फिर से जीवित करने का सशक्त व्यापार जनपदीय अध्ययन का उद्देश्य है। लोगों के बिछुड़े हुए ध्यान को हम बार-बार इस आन्दोलन के द्वारा जनता के जीवन पर केन्द्रित करना चाहते हैं। जनता ही हमारे उदीयमान राष्ट्र की महती देवता है। हमारे सब आयोजनों के मूल में और सब विचारों के केन्द्र में जनता प्रतिष्ठित है। यह सत्य जनपदीय अध्ययन का मेरुदण्ड है। जनता के जीवन के साथ हमारी सहानुभूति और आत्मा जितनी दृढ़ होगी उतना ही अधिक हम जनपदीय अध्ययन की आवश्यकता को समझ पावेंगे।

जनपद जीवन के अनन्त पहलुओं की लीला भूमि है। खुली हुई पुस्तक के समान जनपदों का जीवन हमारे चारों ओर फैला हुआ है। पास गाँव और दूर देहातों में बसने वाला एक-एक व्यक्ति इन रहस्य भरी पुस्तकों के पृष्ठ हैं। यदि हम अपने आपको उस लिपि से परिचित करलें जिस लिपि में गाँवों की जनपदों की अकथ कहानी पृथ्वी और आकाश के बीच में लिखी हुई है, तो हम सहज ही जनपदीय जीवन की धार्मिक कथा को पढ़ सकते हैं। प्रत्येक जानपद-जन एक पृथ्वी पुत्र है। इसके लिए हमारे मन में श्रद्धा होनी चाहिए। हम उसे अपढ़, गँवार और अज्ञान रूप में जब देखने की धृष्टता करते हैं तो हम गाँव के जीवन में भरे हुए अर्थ को खो देते हैं। जिस आँख से हमारे पूर्वजों ने ग्रामों और जनपदों को देखा था। उसी श्रद्धा की आँख से हम फिर देखना है और उनके नेत्रों में जो दर्शन की शक्ति थी उसको फिर से प्राप्त करना है। हम जब गाँवों को देखते हैं तो हमें वे नितान्त अर्थ-शून्य और रुचिहीन दिखायी पड़ते हैं। परन्तु हमारे

पूर्वजों की चक्षुष्मत्ता जनपदों के विषय में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, उनकी आँखों में अपरिचित अर्थ भरा पड़ा था। इस अर्थवत्ता को हमें फिर से प्राप्त करना है, न केवल अध्ययन के क्षेत्र में, वरन वास्तविक जीवन के क्षेत्र में भी। यदि हम अपनी देखने की शक्ति को परिमार्जित कर सके तो जनपद के जीवन का अनन्त विस्तार हमारे सम्मुख प्रकट हो उठेगा। एक गेहूँ के पौधे के पास खड़े होकर जिस दिन हम पहली-बार उसके साथ मित्रता का हाथ बढ़ायेंगे, उसी दिन हम उसकी निजवार्त्ता से परिचित होकर नया आनन्द प्राप्त करेंगे।

किस प्रकार 'सो इद' रूप में गेहूँ का दाना जुड़ी हुई पत्तियों के साथ प्रथम जन्म लेता है, किस प्रकार 'नरई' पड़ने से वह बड़ा होता है, किस प्रकार 'गसौदे' के भीतर बाल के साथ 'घरिआएँ' रहती है जो बढ़ने पर बाहर आ जाती है, और फिर किस प्रकार उन घरिआओं के भीतर 'सक्खन फूल' बैठता है। जब उसके भीतर का रस श्वेत दूध के रूप में बदल कर हमारे खेतों और जीवन को एक साथ लक्ष्मी के वरदान से भर देता है। मानो क्षीर-सागर की पुत्री साक्षात् प्रगट होकर जनपदों में दर्शन देने आई हो। यदि बर्फीली हवा न बहे, बढ़िया समा हो, मोटी धरती हो और पानी लगा हो तो एक एक गमौधा राष्ट्र के जीवन का बीमा लेकर अपने स्थान पर खड़ा हुआ स्वयं हँसता है और अन्य सबको प्रसन्न करता है। गेहूँ के पौधे का यह स्वरूप जनपदीय आँख की बढ़ी हुई शक्ति का एक छोटा सा उदाहरण है। सुतिया हँसली पहने हुए भाँग के पौधे जिनकी निगरती हुई बाले हवा के साथ झूलती है उसी प्रकार का दूसरा हाथ उपस्थित करते है और इस प्रकार के न जाने कितने आनन्दकारी प्रसंग जन-पदीय जीवन में हमें एक दिन देखने को मिल सकते है।

जनपदीय अध्ययन का विद्यार्थी तीर्थ-यात्री की तरह देहात में चला जाता है, उसके लिए चारो ओर शब्द और अर्थ के भण्डार खुले मिलते है। नए नए शब्दों से वह अपनी झोली भरकर लौटता है। जनपदीय जीवन का एक पक्का नियम यह है कि वहाँ हर एक वस्तु के लिए शब्द है। उस क्षेत्र में जो भी वस्तु है उसका नाम अवश्य है। कार्यकर्त्ता को इस बात का दृढ़-विश्वास होना चाहिए। ठीक नाम को प्राप्त कर लेना उसकी अपनी योग्यता की कसौटी है।

यदि हम इस सरल और स्वाभाविक ढङ्ग से किसी देहाती व्यक्ति को बातों में ला सकेंगे तो उसकी शब्दावली का भण्डार हमारे सामने आने लगेगा। उस समय हमें धैर्य के साथ अपने मन की चलनी से उन शब्दों को छान लेना चाहिए और बीच बीच में हलके प्रश्नों के व्याज से चर्चा को आगे बढ़ाने में सहायता करनी चाहिए। जनपदीय व्यक्ति उस गौ के समान है जिसके थनों में मीठा दूध भरा रहता हो, किन्तु उस दूध को पाने के लिए युक्ति पूर्वक दुहने की आवश्यकता है। गाँव का आदमी गाँव का व्यक्ति भारी प्रश्नों से उलझन में पड़ जाता है। उसके साथ बातचीत का ढङ्ग नितान्त सरल होना चाहिए और प्रश्न-कर्त्ता को बराबर उसी के धरातल पर रह कर बात चीत चलानी चाहिए। यदि हम उस धरातल से ऊपर उठ जायँगे तो बातचीत का प्रवाह टूट जायगा। जनपदीय कार्य-कर्त्ता को उचित है कि अपनी जानकारी को पीछे रखे और अपने मनादाता की जानकारी का उचित समादर करे और आस्था के साथ उसके विषय में प्रश्न पूछे। प्रश्न करते समय यदि बीच में कहीं भूल या अटकाव हो तो उस भूले हुए प्रसग को पीछे छोड़ कर प्रश्नों का ताता आगे बढ़ने देना चाहिए। बहुत सम्भव है कि अग्रिम बातचीत के प्रसग में पिछली भूल हाथ आ जाय और प्रश्नों की कड़ी पूरी हो जाय।

अहिछत्रा के चिम्मन कुम्हार की कृपा से बर्त्तन और खिलौने बनाने के लगभग सौ से ऊपर शब्द हमें प्राप्त हुए। जिनकी पुरातत्व-शास्त्र की दृष्टि से हमारे लिए बड़ी उपयोगिता और आवश्यकता थी, उससे हमने उस डोरे का नाम पूछा जिस से कुम्हार चाक पर से बर्तन को अलग करते हैं। उसने कहा इसे डोरा ही कहते हैं और कुछ नहीं। मन में हमें विश्वास न हुआ किन्तु प्रकट रूपमें बातों का क्रम चलाये रक्खा। थोड़ी देर में उसे स्वयं याद आया उस डोरे के लिए 'छेन' शब्द है। यह संस्कृत 'छेदन' प्रा० 'छेअन' का हिन्दी रूप है और कुम्हारों की पुरानी परिभाषा को सामने लाता है। इसी प्रकार चाक के पास में पानी रखने की हाँडी के लिए भी 'चरैंडी' शब्द प्राप्त हुआ जो 'मूल चक्र-भाण्डिका' में प्राकृत और अपभ्रंश में विकसित होकर अपने वर्त्तमान रूप तक पहुँचा है। इसी प्रकार अंग्रेजी Lughandle के लिये 'मुठ्ठो' शब्द प्राप्त हुआ। उसने अपनी परिभाषा में बताया कि चाक पर रक्खी हुई मिट्टी के 'गुल्ले' से तीन फेर में बर्त्तन बन जाता है।

अर्थात् पहले 'अँगूठा गढ़ा कर फैलाना', फिर 'ऊपर को सूत कर सतर करना' और तब एक पोरा अन्दर और एक पोरा बाहर रख कर पिटार बनाना और अन्त में छेनी से काट लेना। इस प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली भाषा की वर्णन शक्ति को विकसित करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जनपदीय जीवन से इसके सहस्रों उदाहरण प्राप्त किये जा सकते हैं। यदि हमारी भाषा का सम्बन्ध जनपदों से जोड़ा जायगा, तभी उसे नया प्राण और नयी शक्ति प्राप्त होगी। गाँवों की बोलियाँ हिन्दी-भाषा का वह सुरक्षित कोष है जिसके धन से वह अपने समस्त अभाव और दलिद्दर को मिटा सकती है।

जनपदों की परिभाषा लेकर गाँव के जीवन का वर्णन हमारे अध्ययन की बहुत बड़ी आवश्यकता है और इस काम को प्रत्येक कार्यकर्त्ता तुरन्त हाथ में ले सकता है। जनपदीय अध्ययन को विकसित करने के तीन मुख्य द्वार हैं:—

पहला—भूमि और भूमि से सम्बन्धित वस्तुओं का अध्ययन।

दूसरा—भूमि पर बसने वाले जन का अध्ययन।

तीसरा—जन की संस्कृति या जीवन का अध्ययन भूमि, जन और संस्कृति रूपी त्रिकोण के भीतर सारा जीवन समाया हुआ है। इस वर्गीकरण का आश्रय लेकर हम अपने अध्ययन की पगडण्डियों को बिना पारस्परिक शंका के निर्दिष्ट स्थान तक ले जा सकते हैं।

भूमि सम्बन्धी अध्ययन के अन्तर्गत समस्त प्राकृतिक जगत है। जिसके विषय में कई सहस्र वर्षों से देश की जनता ने लगातार निरीक्षण और अनुभव के आधार पर बहुमूल्य ज्ञान एकत्र किया है। उसकी थाती देहाती जीवन में बहुत कुछ सुरक्षित है। अनेक प्रकार की मिट्टियों का और चट्टानों का वर्णन और उनके नाम, देश के कौने-कौने से एकत्र करने चाहिए। प्राकृतिक भूगोल के वर्णन के लिए भी शब्दावली जनपदों से ही प्राप्त करनी होगी। एक बार बम्बई की रेल यात्रा में चम्बल नदी के बाएँ किनारे पर दूर तक फैली हुई ऊँची-नीची धरती और करावदार कागर देखने को मिले। विचार हुआ कि इनका नाम अवश्य होना चाहिए। किन्तु उस बार यह नाम प्राप्त न हुआ। दूसरी बार की यात्रा में सौभाग्य से एक जनपदीय सज्जन

से जो साथ यात्रा कर रहे थे उस भौगोलिक विशेषता के लिए उपयुक्त शब्द प्राप्त हुआ। वहाँ की बोली में उन्हें चम्बल के 'बेहड़' कहते हैं। सहस्रों वर्षों से हमारी आँखें जिन वस्तुओं को देखती रही हैं उनका नामकरण न किया होता तो हमारे लिए यह लज्जा की बात होती। जहाँ कहीं भी कोई प्राकृतिक विशेषता भूमि पर्वत अथवा नदी के विषय में है वहीं ही स्थानीय बोली में उसके लिए शब्द होना ही चाहिए। इस साधारण नियम की सचना देश व्यापी है। ये शब्दों की सहायता के बिना पाठ्य पुस्तकों में हमारे प्राकृतिक भूगोल का वर्णन अधूरा रहता है। पहाड़ों में नदी के बर्फीले उद्गम स्थान (अंग्रेजी ग्लेशियर) के लिए आज भी 'बॉक' शब्द प्रचलित है जो संस्कृत वक्त्र से निकला है। साहित्य में 'नदी-वक्त्र' पारिभाषिक शब्द है। इसी प्रकार बर्फीली नदी के साथ आने वाले कंकड़-पत्थर के ढेरके लिए जो बर्फ के गलकर बहआने पर नदी प्रवाह में पड़ा रह जाता है। (अँग्रेजी Moraine) पर्वतीय भाषा में ढाँगो-गाँगो शब्द चालू है। मिट्टी पानी और हवाओं का अध्ययन भूमि सम्बन्धी अध्ययन का विशेष अङ्ग है। जलाशय, मेघ और वृष्टि सम्बन्धी कितना अधिक ज्ञान जनपदीय अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है। हमारे आकाश में समय समय पर जो मेघ छा जाते हैं उनके भिगोने, घेरने और बरसने का जो अनन्त सौन्दर्य है और बहुविध प्रकार उनके सम्बन्ध में उपयुक्त शब्दावली का संग्रह और प्रकाशन हमारे कण्ठ को वाणी देने के लिए आवश्यक है। 'ऋतु संहार' लिखने वाले कवि के देश में आज ऋतुओं का वर्णन करने के लिए शब्दों का टोटा हो यह तो विडम्बना ही है। ऋतु, ऋतु में बहनेवाली हवाओं के नाम और उनके प्रशान्त और प्रचण्ड रूपों की व्यवस्था जनपदीय जीवन का एक अत्यन्त मनोहर पक्ष है। फागुन मास में चलनेवाला फगुनेटा, अपने कम्पशीत से मनुष्यों में कँपकपी उत्पन्न करता हुआ पेड़ों को 'झोर' डालता है और सारे पत्तों का ढेर पृथ्वी पर आ पड़ता है। दक्षिण में चलने वाली 'मलयानिल वायु' न बहुत गर्म न बहुत ठंडी भारतीय ऋतु चक्र की एक निजी विशेषता है। वैशाख से आधे जेठ तक चलने वाली 'पच्छिवा' या 'पछुआ' अपने समय में आती है और फूहड़ स्त्रियों के आँगन का कूड़ा-कर्कट ले जाती है। आधे जेठ से पुरवइया हमारे आकाश को छा लेती है जिसके विषय में कहा जाता है —

भुइयाँ लोट चलै पुरवाई,
तब जानहु बरखा ऋतु आई।

भूमि में लोटती हुई धूल उड़ाती हुई यह तेज वायु सबको हिला डालती है। किन्तु यही पुरवाई यदि चैत के महीने में चलती है तो आम 'लसिया' जाता है और बौर नष्ट हो जाता है, लेकिन चैत की पुरवाई 'महुए' के लिए वरदान है। महुए और आम के अभिन्न सखा जानपद-जन के जीवन में 'पुरवइया' का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। जनपद वधुयें इसके स्वागत गे गाती हैं :—'तनिक चलो हे पुरवा बहिन' हमें मेह की चाह लग रही है—

"चय नेक चलो परवा भाण।
मेहारी म्हारे लग रही चाय।"

इसी प्रकार पानी को लाने वाली 'शूकरी' हवा है जो उत्तर की ओर से चलती है और जिसके लिए राजस्थानी लोक-गीतों में स्वागत का गान गाया गया है।

'सूरया, उड़ी वादली ल्यायी रे'

हे सूरया, उड़ना और बदली लाना, अथवा—

रीति मति आवै, पाणी भर लावै।
तों सूरया के संग आवै बदली।

अर्थात्—हे बदली! ऐसी मत आइयो, पानी भर लाइयो, सूरया के संग आइयो।

हमारे आकाश की सबसे प्रचण्ड वायु 'हउँहरा' (सं० हविधारक) है जो ठेठ गर्मी में दक्खिन-पच्छिम के नैऋत्य कोण से जेठ मास मे चलती है। यह रेगिस्तानी हवा प्रचण्ड लू के रूप में तीन दिन तक बहती रहती है जिसकी लपटो से चिड़िया चील तक झुलस कर गिर पड़ती है। यह वायु रेगिस्तानी 'समून' की तरह है जो अरबों के देश में काफी बदनाम है। मेघ और वायु के घनिष्ट सम्बन्ध पर जनपदीय अध्ययन से अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। देहाती उक्तियों मे इस विषय की अच्छी सामग्री मिलती है।

पशु-पक्षियों और वनस्पतियों का अध्ययन भी जनपदीय अध्ययन का एक विशेष अङ्ग है। अनेक प्रकार के तृण-लता और वनस्पतियों से

हमारे जङ्गल भरे हुए हैं। एक एक घास, बूटी, या मखडी के पास जाकर हमारे पूर्वजों ने उसका विशेष अध्ययन किया और उसका नामकरण किया। आज भी भारतीय आयुर्वेद के वनस्पति सम्बन्धी नामों में एक अपूर्व कविता पायी जाती है। शङ्खपुष्पी, स्वर्णक्षीरी, काकजंघा, सर्पाक्षी, हंसपदी आदि नाम कविता के चरण हैं। प्रत्येक जनपद को सांगोपांग अध्ययन वनस्पतिशास्त्र की दृष्टि से पूरा होना आवश्यक है। इस विषय में गाँवों और जंगलों के रहनेवाले व्यक्ति हमारी सबसे अधिक सहायता कर सकते हैं। देशी नामों को प्राप्त करके उनके संस्कृत और अँगरेजी पर्याय भी ढूँढने चाहिये। यह काम कुछ सुलझे हुए ढंग से जनपदीय-मंडल की केन्द्रवर्ती संस्था में किया जा सकता है। वृक्ष वनस्पति के जीवन से उनके फूलने फलने के क्रम से हम चाहें तो वर्ष भर का तिथिक्रम बना सकते हैं। हमारी पाठ्य पुस्तकें इस विषय में ही प्रचार का सबसे अच्छा साधन बनाई जा सकती हैं। आठ वर्ष की आयु से छोटे बच्चों को आस-पास उगने वाले फूलों और पेड़ों का परिचय कराना आवश्यक है और चौथी कक्षा से नवीं कक्षा तक तो यह परिचय क्रमिक ढंग से अवश्य पढ़ाया जाना चाहिये। इससे देहात की प्रारम्भिक शालाओं में अपने जीवन के प्रति एक नयी रुचि और नया आनन्द पैदा होगा। किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि ज्ञान की यह नयी सामग्री परीक्षा के बोझ लेकर कहीं हमारे भीतर प्रवेश न करने पावे। हम तो खिली धूप में गाने वाले स्वतन्त्र पक्षी की तरह हमारे ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए। अध्ययन का यही दृष्टिकोण पक्षियों के विषय में भी सत्य है। देहात के जीवन में रङ्गबिरङ्गे पक्षियों का विशेष स्थान है। यहाँ कहते हैं कि भगवान की रचना में साढ़े तीन दल होते हैं —

१—चींटी दल
२—टीड़ी दल
३—चिड़ी दल

आधे दल में पाट और गाम हैं। पक्षियों के आने जाने और ठहरने के कार्यक्रम से भी हम वर्ष भर का पञ्चाङ्ग निश्चित कर सकते हैं—छोटा सा सफेद 'ममोला' पक्षी जाड़ों में बहुत सुन्दर लगता है। जाड़े का अन्त होते-होते चल देता है। जाड़े जाने पर कोयल बसन्त की सूचना लेकर आती है और स्वयं कोयल उस समय हमने

विदा लेती है जब तुरई में फूल फूलता है। ऋतु-ऋतु और प्रत्येक मास में हमारे घरों से वाटिकाओं और जङ्गलों में जो पक्षी उतरते हैं उनकी 'निजवार्ता' और 'घरवार्ता' अत्यन्त ही रोचक है। जिससे परिचित होना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। हमारे निर्मल जलाशयों में क्रीड़ा करने वाले हंस और क्रौंच पक्षी किस समय यहाँ से चले जाते हैं। कहाँ जाते हैं और कब लौटते हैं इनकी पहचान हमारी आँख में होनी चाहिए। इस प्रकार के सूक्ष्म निरीक्षण के द्वारा डगलस डेवर ने एक उपयोगी पुस्तक तय्यार की थी। जिसका नाम है 'वर्डकैलेंडर आव नार्थ इण्डिया'। पक्षियों का अध्ययन हमारे देश में बहुत पुराना है। वैदिक साहित्य में पक्षियों का ज्ञान रखने वाले विद्वान को 'वायो-विधिक' कहा गया है जिसका रूपान्तर पतञ्जलि के महाभाष्य में वायस विधिक पाया जाता है। राजसूय यज्ञ के अन्त में अनेक विद्याओं के जानने वाले विद्वानों की एक सभा लगती थी। जिसमें वे लोग अपने अपने शास्त्र का परिचय राजा को देते थे, व्यापक रूपसे पक्षी भी राजा की प्रजा हैं और उनकी रक्षा का भार भी उस पर है। इस सभा में विशेषज्ञ देश के पक्षियों का परिचय राजा को देते थे। इस देशमें पक्षियों के प्रति जो एक हार्दिक अनुराग की भावना, छोटे बड़े सबमें पायी जाती है वह संसार में अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। जहाँ आकाश के इन वरद-पुत्रों को हर समय तमञ्चे का खटका बना रहता है। पक्षियों के प्रति इस जन्म सौहार्द्य का संवर्द्धन हमें आगे भी करना चाहिए। इस देश की विशाल भूमि में देखने और प्रशंसा करने की जो अतुलित सामग्री है उस सबके प्रति मन में स्वागत का भाव रखना जनपदीय अध्ययन की विशेषता है। भूमि माता है और मैं उसका पुत्र हूँ (माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः) यह जनपदीय भावना का मूल सूत्र है।

जिस वस्तु का अपनी भूमि के साथ सम्बन्ध है, उसे ही भली प्रकार जानना और प्यार करना यह हमारा कर्त्तव्य है और अपने राष्ट्र के नवाभ्युत्थान में उसके उद्धार और उन्नति का उपाय करना यह उस कर्तव्य का आवश्यक परिणाम है। उत्तर से दक्षिण तक देश में फैली हुई गायों की नस्लें, घोड़े, हाथी, भेड़, बकरी इन सम्बन्धी वंश-वृद्धि और नसल योजना के विषय में हमें रुचि होनी चाहिए। जब हम सुनते हैं कि इटावा प्रदेश की जमनापारी बकरी दूध देने में

समार भर में मवसे बढ़कर है एवं जब हमे ज्ञात होता है कि लखनऊ के असील मुर्गो ने, जिन के पेट की नसें तारकशी की तरह जान पड़ती हैं ब्राजील में जाकर कुश्ती मारी है तो हमें सच्चा गर्व होता है। इसका कारण मातृभूमि का वह अखण्ड सम्बन्ध है जो हमें दूसरे पृथ्वी पुत्रों के साथ मिलाता है।

जनपदीय अध्ययन का अत्यन्त रोचक विषय मनुष्य स्वयं है। मनुष्य के विषय में यहाँ हम जितनी जानकारी प्राप्त कर सकें करनी चाहिए। ज्ञान साधन का प्रत्येक नया दृष्टिकोण जिसे हम निकमित कर सकें मनुष्य विषयक हमारी रुचि को अधिक गंभीर और रसमय बनाता है। इस देश में सैकड़ों प्रकार के मनुष्य बसते हैं उनकी रहन सहन, उनके रीति रिवाज, उनके आचार विचार, उनकी शारीरिक विशेषतायें, उनकी उत्पत्ति और वृद्धि, उनके संस्कार और धर्म, उनके नृत्य और गीत, उनके पर्व और उत्सव एवं भाँति भाँति के आमोद प्रमोद, उनके वाच के विशेष गुण एवं स्वभाव, उनके वेष और आभूषण, उनके निजी नाम एवं स्थान-नामों के विषय में जानने और खोज करने की रुचि और शक्ति हम उत्पन्न करनी चाहिए, यही जनपदीय अध्ययन की सच्ची आँख है। इस आँख में जितना तेज आता जायगा उतने ही अधिक अर्थ को हम देखने लगेंगे। भगवान वेदव्यास की बताई परिभाषा के अनुसार यहाँ मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है —

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

मनुष्य हमारे जनपदीय मण्डल के केन्द्र में है। उसका आसन ऊँचा है। स्वयं मनुष्य होने के नाते सम्पूर्ण मानवीय जीवन में हमें गहरी रुचि होनी चाहिए। बीते हुए अनेक युगों की परम्परा वर्तमान पीढ़ी के मनुष्य में साक्षात् प्रकट होती है। आने वाले भविष्य का निर्माता भी यही मनुष्य है। हमारे पूर्वजों ने कर्म-वाणी और मन से जो कुछ भी सिद्धि प्राप्त की उस सबकी थाती वर्तमान मानव जीवन का प्राप्त हुई है। इतनी गंभीर उत्तराधिकार को लिये हुए जो मनुष्य हमारे सम्मुख है उसकी विशिष्टता यानी की नहीं अनुभव करने की वस्तु है। मानव जीवन के वसमान जानेवाले के भीतर शताब्दियाँ

और सहस्राब्दियों के सूत्र ओत-प्रोत हैं। विचारों और संस्थाओं की तहें क्रमानुसार एक दूसरे के ऊपर जमी हुई मिलेंगी और इन पर्त्तों को यदि हम सावधानी के साथ अलग कर सकेंगे तो हमे अनेक युगों की संस्कृतियों का विचित्र आदान-प्रदान एवं समन्वय दिखायी देगा। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भारतवर्ष समन्वय प्रधान देश है। समन्वय धर्म ही यहाँ की सार्वभौम संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। अनेक विभिन्न संस्कृतियो के अनमिल और अनगढ़ विचार और व्यवहार यहाँ एक दूसरे से टकराते रहे हैं और अन्त में सहिष्णुता और समन्वय के मार्ग से सहानुभूति पूर्वक एक साथ रहना सीखे हैं। परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा जीवन को ढालने की विलक्षण कला इस देश में पायी जाती है। जिस प्रकार हिमालय के शिला खंडो को चूर्ण करके गंगा की शाश्वत धारा ने उत्तरापथ की भूमि का निर्माण किया है जिसके रजकण एक दूसरे से सटकर अभिन्न बन गये हैं और जिनमें भेद की अपेक्षा साम्य अधिक है। उसी प्रकार का एकीकरण भारतीय संस्कृति के प्रवाह मे पली हुई जातियों मे हुआ है। किसी समय इस देश के विस्तृत भू-भाग में निषाद जाति का बसेरा था, उसी जाति के एक विशेष व्यक्ति गुह-निषाद की कथा हमारे राम-चरित से संबंधित है। गुह-निषाद के वंशज आज भी अवध के उत्तर-पूर्वी भाग मे बसे हुए हैं किन्तु आज उनकी संस्कृति हिंदू धर्म की विशाल संस्कृति के साथ घुल-मिलकर एक बन चुकी है। जितना कुछ उनका अपना व्यक्तित्व था उसे छोड़ने के लिए बाधित नहीं हुए, उसकी रक्षा करके भी वे एक अपने से ऊँची संस्कृति के अंक में प्रतिपालित होकर उनके साथ एक होगये। समन्वय की इसी प्रक्रिया का नाम 'हिंदूकरण पद्धति' है। क्या जनपद और क्या नगर इस प्रकार के समन्वय का जाल सर्वत्र बुना हुआ है किन्तु जनपदो की प्रशान्त गोद मे इस प्रकार के प्रीति-सम्पन्न समन्वय का अध्ययन विशेष रूप से किया जा सकता है, जहाँ आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से विषमताऐं एक मर्यादा के भीतर रहती है।

अध्ययन के जिन दृष्टिकोणो का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमे से जिस किसी को भी हम लें हमारे सामने रोचक सामग्री का भंडार खुल जाता है। उदाहरण के लिए किसी गाँव मे भिन्न भिन्न श्रेणियों के मनुष्यो के व्यक्तिवाची नामो को ही हम ले, इन नामों

में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी शब्द-रूपों का रोचक सम्मिश्रण दिखायी पड़ेगा। गाँव का सिब्बा नाम वही है जिसका संस्कृत रूपान्तर शिवदत्त या शिव के साथ अन्य कोई उत्तर पद जोड़ने से बनता है। व्याकरण के ठोस नियमों के अनुसार उत्तर पद का लोप कर नाम को छोटा बनाने की प्रथा लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व अस्तित्व में आ चुकी थी। उत्तर पद के लोप का सूचक 'क' प्रत्यय जोड़ने की बात वैयाकरण बताते हैं। इसके अनुसार 'शिवदत्त' का रूप 'शिवक' बनता है। शिवक का प्राकृत में 'सिवअ' और उसीका अपभ्रंश में सिब्बा रूप हुआ। गाँवों का कल्लू या कलुआ संस्कृत कल्याणचन्द्र या कल्याणदत्त का ही रूपान्तर है। कल्य का कल्ल और कल्ल से 'उक' प्रत्यय जोड़कर 'कल्लुक' रूप बनता था जिसका प्राकृत एवं अपभ्रंश में कल्लुव या कलुआ होता है, अथवा इससे ही कल्लू एवं कालू रूप बनते हैं। अपभ्रंश भाषा के युग में इस प्रकार के नामों की बाढ़ सी आगयी थी और प्राय सभी नामों को अपभ्रंश का चोला पहनना पड़ा। 'नानक' जैसा सरल नाम प्राकृत और अपभ्रंश के माध्यम से मूल संस्कृत 'ज्ञानचन्द्र' से बना है। ज्ञान-णाण--प्रा० हिन्दी नान + क, ये इस विकास के तीन चरण हैं। इसी प्रकार मुग्ध से मूधा, स्निग्ध से सीधा। विपुलचन्द्र से बूलचन्द्र आदि नाम हैं। ठेठ गँवारू नामों का भी अपना इतिहास होता है। 'छीतर' 'फिक्कू' 'पचारू' नामों के पीछे भी पुराने विश्वासों का रहस्य छिपा है जो भाषा-शास्त्र और जन-विश्वासों की सहायता से समझा जा सकता है। मनुष्य नामों की तरह जनपदीय जीवन का दूसरा विस्तृत विषय स्थान-नाम हैं। प्रत्येक गाँव, खेड़े, नगले के नाम के पीछे भाषा-शास्त्र से मिश्रित सामाजिक इतिहास का कोई न कोई हेतु है। निमोघ ग्राम से 'निगोहा', फलन गाँव से पिलखुआ, गंध-कुलिका से गधौली, सिद्धकुलिका या सिद्धपल्ली से सिधौली, सिन्दिकुलिका से सढ़ौली आदि नाम बनते हैं। गाँवों में तो प्रत्येक खेत तक के नाम मिलते हैं, जिनके साथ स्थानीय इतिहास पिरोया रहता है। शीघ्र ही समय आयेगा जब हम स्थान-नाम-समितियों का संगठन करके इन नामों की जाँच पड़ताल करने लगेंगे। दूसरे देशों में इस प्रकार की छानबीन करने वाली परिषदें हैं, बड़े बड़े संगठन हैं और उन्होंने अध्ययन और प्रकाशन का बहुत कुछ काम भी किया है।

जनपदीय अध्ययन की जो आँख है उसकी ज्योति भाषा-शास्त्र की सहायता से कई गुना बढ़ जाती है। भाषा-शास्त्र में रुचि रखने वाले व्यक्ति के लिए तो जनपदीय अध्ययन कल्पवृक्ष के समान जानना चाहिए। किसान के जीवन की जो विस्तृत शब्दावली है उसमे वैदिक काल से लेकर अनेक शताब्दियो के शब्द संचित हैं। हम यदि चाहें तो प्राचीन काल की बहुत सी ऐसी शब्दावली का उद्धार कर सकते हैं जिसका साहित्य में उल्लेख नहीं हुआ। मानव श्रौतसूत्र मे हसिया के लिए 'असिद' शब्द प्रयुक्त हुआ है। उसी से लोक मे हसिया शब्द बना है। किन्तु उसका साहित्यिक प्रयोग वैदिक काल के उपरान्त फिर देखने मे नहीं आया। केवल हेमचन्द्र ने एक बार उसे देशी शब्द मान कर अपनी देशीनाममाला मे उद्धृत किया है। इसी प्रकार श्रौतसूत्रों मे प्रयुक्त 'इण्ड्' शब्द का रूप लोक मे ईंडरी या ईंडुरी आज भी चालू है यद्यपि उसका साहित्यिक स्वरूप फिर देखने मे नहीं आया। गेहूँ की नाली, मूँज या घास आदि से बटी हुई रस्सी के लिए पुराना वैदिक शब्द 'यून' था जिसका रूपान्तर 'जून' किसानों की भाषा मे जीवित है। जिससे निकला हुआ बर्तन मांजने का 'जूना' शब्द बहुत सी जगह प्रचलित है।

इस प्रकार के न जाने कितने शब्द भरे हुए हैं, भाषा-शास्त्री के लिए जनपदीय बोलियाँ साक्षात् कामधेनु के समान है। दो हजार डेढ़ हजार वर्षों के पिछड़े हुए शब्द तो इन बोलियों में चलते-जाते हाथ लगते है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के अनेक धात्वादेशों की धात्री जनपदो की बोलियाँ हैं। हिन्दी भाषा की शब्द-निरुक्ति के लिए हमे जनपदीय बोलियो के कोषो का सर्व प्रथम निर्माण करना होगा। बोलियों मे शब्दो के उच्चारण और रूप जाने बिना शब्द की व्युत्पत्ति का पूरा पेटा नहीं भरा जा सकता। बोलियों की छानबीन होने के उपरान्त कई लाभ होने की संभावना है। प्रथम तो इन कोषो मे हमारे प्रादेशिक जीवन का पूरा ब्यौरा आ जायेगा। शब्द नामक ज्योति के प्रकाश मे जीवन के अँधेरे कोठो को प्रकाश से भर देना है। जनपदों के बहुमुखी जीवन के शब्दों को पाकर हमारी साहित्यिक वर्णन-शक्ति विस्तार को प्राप्त होगी।

हिन्दी भाषा मे जनपदो के भण्डार से लगभग ५० सहस्र नये शब्द आ जायेंगे, और भौतिक वस्तुओ एवं मनोभावो को व्यक्त

करने के लिए ठीक शब्दावली का हमारा टोटा मिट जायगा। जनपदो के साथ मिलकर हमारी भाषा को अनेक धातुएँ, मुहावरे और कहावतों का अद्भुत भंडार प्राप्त होगा। कहावतें हमारी जातीय बुद्धिमत्ता के समुचित सूत्र हैं। शताब्दियों के निरीक्षण और अनुभव के बाद जीवन के विविध व्यवहारों में हम जिस संतुलित स्थिति तक पहुँचते हैं लोकोक्ति उसका संक्षिप्त सत्यात्मक परिचय हमें देती है। साहित्य के अन्य क्षेत्र में सूत्रों की शैली को हमने पीछे छोड़ दिया, किन्तु लोकोक्तियों के सूत्र हमारे चिर साथी रहे हैं और आगे भी रहेंगे। लोकोक्तियों के रूप में समस्त जाति की आत्मा एक बिन्दु या कूट पर सचित होकर प्रकट हो जाती है। उदाहरण के लिए माँ के प्रति जो हमारी सर्वमान्य पुरानी श्रद्धा है वह उस उक्ति में जो हमें बैसवाड़ा के एक गाँव में प्राप्त हुई कितने काव्यमय ढंग में अभिव्यक्त मिलती है —

'स्वाँति के बरसे सीप के परसे तृप्ति होती है'

बुन्देलखंडी की एक उक्ति है—

'अकल बिन पूत कठैगर से
बुद्धी बिन बिटिया ढेंगुर सी'

प्रत्येक व्यक्ति में बूझ और समझ के लिए जो हमारा प्राचीन आदर का भाव है, पंचतंत्र हितोपदेश आदि नीति उपदेशों के द्वारा जिस नीति निपुणता की प्रशंसा की गयी है, जिस बुद्धिमत्ता का होना ही सच्ची शिक्षा है, स्त्री और पुरुष दोनों के लिए जिसकी आवश्यकता है, उस बुद्धि अथवा अकल की प्रशंसा में सारे जनपद की आत्मा इस लोकोक्ति में बोल पड़ी है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से कठैगर संस्कृत का 'काष्ठार्गल' (वह डंडा जो किवाड़ों के पीछे अटकाने के लिए लगाया जाता है) और 'ढेंगुर' 'दण्डार्गल' (वह डंडा या लकड़ी जो पशुओं को रोकने के लिए उनके गले से लटका दिया जाता है।) के रूप हैं।

प्रत्येक जनपदीय क्षेत्र में कई कई सहस्र कहावतें मिलने की संभावना है। उनका उचित प्रकाशन और संपादन हिन्दी साहित्य की अनमोल वस्तु होगी। यह भी नियम होना चाहिए कि जनपदीय शालाओं में पढ़ायी जाने वाली पोथियों में स्थानीय मैकड़ों कहावतों

का प्रयोग किया जाय। दशम श्रेणी तक पहुँचते पहुँचते विद्यार्थी को अपनी एक सहस्र लोकोक्तियों का अर्थसहित अच्छा ज्ञान करा देना चाहिए।

भारतवर्ष का जो कृषि-प्रधान जीवन है उसकी शब्दावली प्राचीन समय से क्या थी साहित्य में उसका लेख नहीं बचा किन्तु जनपदीय बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन से हम उसे फिर प्राप्त कर सकते हैं। इससे प्रान्तीय भारतीय जीवन पर एक नया प्रकाश पड़ेगा। खेतों की जुताई, बुआई, कटाई और मँड़नी से सम्बन्ध रखने वाले शब्दों को पंजाब से बंगाल तक और युक्तप्रान्त से गुजरात-महाराष्ट्र तक के जनपदों से यदि हम एकत्र करें तो संस्कृत मूलक समान शब्दों का एक व्यापक ताना-बाना बुना हुआ मिलेगा। कुछ शब्द अपनी-अपनी बोलियों में भिन्न भी होंगे किन्तु समान शब्दों के आधार से हम प्राचीन शब्दावली तक पहुँच सकेंगे। खेत काटनेवाले के लिए 'लोवा' [सं० लावक], गन्ना काटनेवाले के लिए 'कपटा' [संस्कृत: कॢप्त] ऐसे शब्द हैं जो हमें तुरन्त पुरानी परंपरा तक पहुँचा देते हैं। आज भी मेरठ के गाँव गाँव में वे चालू हैं, जीवित हैं। कुएँ की 'आन्हर' [सं० अंघ्रि = चरण], छींटकार बीज बोने के लिए 'पवेड़ना' धातु, [सं० प्रवेरिता], जवान बछिया के लिए 'ओसर' [सं० उपसर्या = गर्भधारण के योग्य] आदि अनेक शब्द प्राचीन परम्परा के सूचक हैं। मध्यकाल के आरम्भ में जब मुसलमान यहाँ आये तो हमारे नागरिक जीवन में बहुत से परदेशी शब्दों का चलन हो गया और अपने शब्द मर गये। किन्तु कृषि शब्दावली में अपना स्वराज्य बना रहा और कचहरी के शब्दों को छोड़ कर जिनका केन्द्र शहरों में था शेष शब्दावली पुरानी ही चालू रही। इस सत्य को पहचान कर हम भाषा-शास्त्र की सहायता से अनेक जनपदीय शब्दों के साथ नया परिचय पा सकते हैं। आवश्यक शोध और व्याख्यानों के द्वारा इस कार्य को आगे बढ़ाना होगा। कृषि के साथ ही भिन्न-भिन्न पेशेवर लोगों के शब्द हैं जिनका संग्रह और उद्धार करना चाहिए। दिल्ली के अंजुमन तरक्किए उर्दू की ओर से इस प्रकार का कुछ कार्य किया गया था और उस संस्था की ओर से पेशेवर लोगों की शब्दावली आठ भागों में (फरहंगे इस्तलाहात-ए-पेशेवरान) छप चुकी है, किन्तु यह काम उससे बहुत बड़ा है और इसमें सीखे हुए, भाषा-शास्त्र

से परिचित, कार्यकर्त्ताओं की सहायता की आवश्यकता है। अकेले रँगरेज की शब्दावली से विविध रंग और हलकी चटकीली रंगता के लिए लगभग दो सौ शब्द हम प्राप्त कर सकते हैं।

किन्तु जनपदीय अध्ययन के लिए शब्दों से भी अधिक महत्वपूर्ण जनपदीय मनोभावों से परिचय प्राप्त करना है। जनपदीय मानव के हृदय में सुख-दुःख, प्रेम और घृणा, आनन्द और विरक्ति, उल्लास और सुस्ती, लोभ और उदारता आदि मन के अनेक गुणों से प्रेरित होकर विचरने और कर्म करने की जो प्रवृत्ति है उसका स्पष्ट दर्शन किस साहित्य से हमें मिलता है? जनपदीय मनोभावों का दर्पण साहित्य तो अभी बनने के लिए शेष है। ग्रामवासिनी भारत-माता का पुष्कल परिचय प्राप्त करना हमारे राष्ट्रीय जीवन की एक बड़ी आवश्यकता है। राष्ट्रीय चरित्र और प्रकृति या स्वभाव के ज्ञान के लिए हमें इस प्रकार के जनपदीय साहित्य की नितान्त आवश्यकता है। इस दृष्टि से जनपदीय जीवन का चित्र उतारने वाले जितने भी परिचय ग्रन्थ या उपन्यास लिखे जायँ स्वागत के योग्य हैं। बड़े विषयों पर लिखना अपेक्षाकृत सरल है किन्तु उस लेखक का कार्य अपेक्षाकृत कठोर है जो अपने आपको जनपदीय सीमा के भीतर रख कर लिखता है और जो बाहरी छाया से जनपदीय जीवन के चित्र को विकृत या लुप्त नहीं होने देता। इस प्रकार का साहित्य अन्ततोगत्वा पृथ्वी के साथ हमारे सम्बन्ध और आस्था का परिचायक साहित्य होगा।

जनपदीय अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और गहरा है उसमें अपरिमित रस और नवीन प्रकाश भी है। जीवन के लिए उसकी उपयोगिता भी कम नहीं है। उस अध्ययन के सफल होने के लिए सधे हुए ज्ञान और समझदारी की भी आवश्यकता है। मानसिक सहानुभूति और शारीरिक श्रम के बिना यह कार्य पनप नहीं सकता। जनपदीय अध्ययन की आँख लोक का वह खुला हुआ नेत्र है जिसमें सारे अर्थ दिखाई पड़ते हैं। ज्यों-ज्यों इस नेत्र में देखने की शक्ति बढ़ती है त्यों-त्यों भूतत्व में छिपे हुए रत्न और कोषों की भाँति जनपदीय जीवन के नए-नए भण्डार हमारे दृष्टि-पथ में आ जाते हैं। जनपदीय चक्षुष्मत्ता साहित्यिक ही नहीं प्रत्येक मनुष्य का भूषण है। उसकी वृद्धि जीवन की आवश्यकता के साथ जुड़ी है। अशोक के शब्दों में जानपद जन का दर्शन हमारी जनपदीय आँख की सच्ची सफलता है।

लोक-जीवन और संस्कृति

(श्री० सत्येन्द्र एम० ए०)

अब तक मनुष्य जीवन का जो प्रवाह रहा है वह इस प्रकार का रहा है कि उसमें जीवन की उन बातों को महत्व दिया गया है जो बातें उसके नित्य और दैनिक जीवन में नहीं आतीं। स्वभावतः मनुष्य-जीवन के दो रूप होते हैं। एक विशेष जीवन और दूसरा साधारण घरेलू जीवन। मनुष्य नित्य घरेलू जीवन पर एक प्रकार से परदा डालता है और विशेष जीवन को उससे ऊपर उभारना चाहता है। इस विशेष जीवन के लिए वह चेष्टा करता है, वह इस विशेष जीवन के साथ स्वयं विशेष महत्वपूर्ण बनने और नेतृत्व प्रदर्शन करने की चेष्टा करता है, जब कभी समाज में मिलता है तो अपने को स्वभावतः विशेष रूपसे प्रकट करता है। इन दो रूपों में से हमें मनुष्य-जीवन के दो पहलू दिखाई पड़ते हैं। एक वह है जिसे सभ्यता का जीवन कहते हैं—ऐसा जीवन मनुष्य की संस्कृति से घनिष्ठ संबन्ध नहीं रखता। सभ्यता का जीवन मनुष्य के सोद्देश्य सजे-सँवरे चैतन्य उद्योग से सम्बन्ध रखता है। सभ्यता का जीवन मानव के प्रकृत रूप को पीछे धकेल कर उसके अपने निर्मित-विकसित आदर्शों पर खड़ा होता है। उसका अध्ययन जैसे मानव-समाज के चेतन-मन का अध्ययन है, वह जिस मनोविज्ञान से होता है, वह मनोविज्ञान पूर्ण मानव के अध्ययन के लिए उपयोगी नहीं। उसके द्वारा मनुष्य के समस्त मन-सम्बन्धी विकारों का समाधान नहीं होता। हमारा चैतन्य मस्तिष्क ही उसके अध्ययन का विषय है। चैतन्य मस्तिष्क के अतिरिक्त भी और एक मानस है जिसका हाल ही में शोध हुआ है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में अब तक जो शोध हुए थे उनमें रोगों और मन के सम्बन्ध पर विशेष दृष्टि नहीं थी। किन्तु हिस्टीरिया जैसे कुछ रोगों का सम्बन्ध मनुष्य के मन से बहुत गहरा है। इन रोगों की चिकित्सा में एक जर्मन विद्वान को यह पता चला कि यह सब कार्य चैतन्य मस्तिष्क के विकार का नहीं;

उससे सम्बधित नहीं, फिर भी किसी मन से ही सम्बन्धित है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि चेतन्य मस्तिष्क के अन्दर अचैतन्य मस्तिष्क है उसी के द्वारा यह ऐसे उपक्रम होते हैं। इस प्रकार जितना ही अध्ययन उसने किया उसे इस भीतरी अचेतन मन में निष्ठा बढ़ी। चेतन्य मस्तिष्क केवल उन बातों को ग्रहण करता है और प्रकाश में लाता है जो चीजें समाज में प्रचलित रुचि के अनुकूल होती हैं, जिन्हें समाज स्वीकार करता है, जिनसे समाज या व्यक्ति घृणा नहीं करता। लेकिन मनुष्य-जीवन में छोटी बड़ी अच्छी बुरी सभी बातें आती रहती हैं। उनमें समाज अथवा व्यक्ति जो बातें ग्रहण नहीं करना चाहता उनको चैतन्य मस्तिष्क कुचलता है, उन्हें चेतना में नहीं आने देता। पर यही विचार जो सामयिक दृष्टि से इस प्रकार अग्राह्य माने जाते हैं जीवन के मर्म से गहरा सम्बन्ध रखते हैं। ऐसे विचार मर नहीं जाते, वे अचैतन्य मस्तिष्क में समा जाते हैं। तब यह स्पष्ट है कि यथार्थ मस्तिष्क अचेतन्य मस्तिष्क के अतिरिक्त है। मानवी सभ्यता इसी चेतन-मानस का परिणाम है, और मानव जीवन के मर्म को विशेष-जीवन के उद्योगपूर्ण आतंक के द्वारा नीचे दबाये हुए है। अचैतन्य मस्तिष्क अयथार्थ मस्तिष्क को पराभूत करने की चेष्टा करता है। अतः मनुष्य की साधारण और विशेष रूप की स्थिति होती है यह स्पष्ट है। उसमें साधारण रूप में मनुष्य क्या है इसे भी हम जानना है। इसके लिए हमें जीवन के भीतर झाँकने की आवश्यकता पड़ती है। सभ्य जीवन मानव-जीवन का सबसे ऊपरी स्तर है, यह हमारे जीवन के भव्य भवन की ऊपरी सजावट का रूप है। यह वैभव और सौष्ठव से विभासित है, इसको हम बहुधा नगरों में ही केन्द्रित देखते हैं। सभ्यता का जीवन जिन प्रसाधनों पर निर्भर करता है, वे नगर और शहर में ही उपलब्ध होते हैं। फलतः सभ्य जीवन और सभ्यता का 'नगर' अथवा शहर से सम्बन्ध हो गया है। नगर से नीचे गाँव है—नगर कम हैं गाँव ज्यादा, गाँव ही में भारत के ७४ प्रतिशत मनुष्य रहते हैं—और नगर जीवन की तुलना में ग्राम्य जीवन कम सभ्य है, अथवा बिल्कुल ही नहीं। यही कारण है कि अर्थान्तर के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि 'गँवार' शब्द कैसे 'असभ्य' का द्योतक हो गया। हम सभ्य जीवन, नगर के जीवन की ओर आकृष्ट होते हैं, पर जैसा स्पष्ट है, जीवन का यथार्थ रूप उसका मार्मिक रूप गाँवों में है। साधारण लोक वहीं रहता है। फिर भी साधारण हमसे

ओझल है, और हम विशेष को देखते हैं, उसी की प्रतिष्ठा करते हैं। साहित्यमें भी हमें यह आभिजात्य दृष्टि व्याप्त मिलती है। साहित्यकार ने साहित्य में 'ग्राम्यत्व' नाम का दोष स्पष्ट स्वीकार किया है। इस प्रकार उद्योग-पूर्वक साहित्य को वृहद् और यथार्थ जीवन से अलग रखा गया। किन्तु मनुष्य की अभिव्यक्ति तो प्रत्येक क्षेत्र मे होती है। 'ग्राम्यत्व' भी एक अभिव्यक्ति है। भले ही वह किसी की दृष्टि में किसी कारण दोष हो। गाँवों में भी 'साहित्य' रचा गया; वह तथाकथित 'साहित्य' में सम्मिलित नहीं किया गया; साहित्यकार की आभिजात्य दृष्टि ने उसे घृणा की दृष्टि से देखा, उसका तिरस्कार किया। इस प्रकार साहित्यकार ने भी उसके दो रूप स्वीकार किये—एक ग्राम्य रचना और दूसरी साहित्यिक रचना। उदाहरणार्थ तुलसीदास की रामायण साहित्यिक रचना है और रामायण पर लिखे गए जिकड़ी के भजन साहित्यिक नहीं माने जाते; क्योंकि वे तुलसीदास की भाँति विशेष ग्रन्थो का अध्ययन और मनन करके नहीं लिखे गए। लेकिन तुलसीदास की रामायण मे हम वह सहज स्वाभाविक रूप नहीं पाते जो जिकड़ी के भजनों मे हम पाते है। ग्रामीण कवि ने कोई शास्त्र नहीं पढ़ा। अपनी उमङ्ग और भावों को अपने उद्गार के रूप में; श्लील या अश्लील भाषा मे और उसी के अनुकूल छन्दो मे उसने प्रकट कर दिया। यह ग्राम-साहित्य उन्होंने किसी ग्रन्थ मे नहीं पढ़ा, किसी पाठशाला में नहीं सीखा। अपने बाप-दादा से सुनकर ही उसे जाना और उसी रूप मे उसे सुरक्षित रखा। प्राचीन काल मे वेदों को भी लोग सुनकर ही मौखिक परम्परा से सुरक्षित रखते थे।

आज के साहित्यकार ऐसे ग्राम-साहित्य को यह कहकर उपेक्षा करते हैं कि इसमे कोई सुरुचि नहीं, सौष्ठव नहीं, गूढ़ कला नहीं; हम कला मे इन्हे ऊँचा स्थान नहीं दे सकते। इस प्रकार के विश्वास साहित्य-क्षेत्र मे है, ये जीवन के अन्य क्षेत्रों मे भी दिखाई पड़ते है: जैसे रहन-सहन, पहनावे-ओढ़ावे आदि मे। जीवन मे और जीवन की अभिव्यक्ति साहित्य में इस प्रकार हमे वैविध्य और अन्तर मिलता है। साधारण जीवन—लोक जीवन—ग्राम्य-जीवन बहुत कुछ पर्यायवाची है। लोक-जीवन की सबसे बड़ी विशेषता उसकी स्वाभाविकता है। इसके असली रूप को जानने के लिए हमे लोक-जीवन के अध्ययन

की महती आवश्यकता है। यह लोक-जीवन किसी भी जाति की पृष्ठ-भूमि और मूल-प्रेरणा-स्थल है। यही अवचेतन मानस की भाँति जाति और समाज के समस्त जीवन को सञ्चालित करता है। तो क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि विशेष जीवन के द्वारा हम अपने को संस्कार किया हुआ यानी सभ्य पाते हैं और लोक-जीवन को हम असंस्कारों, रूढियों और अन्धविश्वासों में पड़ा हुआ गर्हित-जीवन समझते हैं। किन्तु वस्तु स्थिति ऐसी ही है। आज हमें इसके रहस्य को खोलना होगा। जिन्हें हम अन्धविश्वास और रूढियाँ मानते हैं उनका अध्ययन हम वैज्ञानिक आधार पर कर सकते हैं। हम ऐसी प्रत्येक रूढि और विश्वास को लेकर उसके इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए उसके 'मूल' को जान सकते हैं। जैसे इतिहास से हम देखते हैं कि १० वर्ष पूर्व अमुक स्थान का क्या रूप रहा, उसमें १०० वर्ष पूर्व के उसके क्या चिन्ह मिलते हैं, और उससे भी पूर्व वह क्या था, यों हम यह भी जानने की चेष्टा करते हैं कि उसकी मूल जड़ क्या है। इस प्रकार के अध्ययन में हमारे इतिहास का अध्ययन भी शामिल हो जाता है। उदाहरण के लिए लोक-जीवन के अध्ययन में 'शकट चौथ' की वार्ता को ले सकते हैं। उसमें कहीं-कहीं 'तिलकुटे' की एक मनुष्य जैसी आकृति बनायी जाती है। मुख पर घी और गुड रख दिया जाता है। घर का कोई बालक या पुरुष, बालिका या स्त्री नहीं, एक चाकू से उसका सिर धड से अलग काट देता है। काटते समय उससे कहा जाता है कि वह "में ऐं ऐं" करे। कटा हुआ सिर गुड और घी के साथ काटने वाले को मिलता है। इस प्रथा में कितनी बातें छिपी दीखती हैं। स्पष्ट ही 'शकट चौथ' का यह 'तिलकुटा' बलि किसी समय की मानव बलि की स्मृति है। प्राचीन-काल में आदिम-मानव मनुष्य-बलि देता होगा। अधिक सभ्य होने पर मनुष्य-बलि बन्द करदी गयी होगी और देवता के सन्तोष के लिए 'बकरी' की बलि दी जाने लगी होगी। ऐसा संशोधन कितने ही स्थानों पर किया गया है। झाँसी में 'भङीचरा पहाड' पर शनिश्चर देवता को पहले मनुष्य बलि पर्वत पर से ढकेल कर दी जाती थी ऐसा कहा जाता है। अब किसी पशु की बलि दी जाती है। यही स्थिति शकट चौथ की बलि के सम्बन्ध में हुई होगी। 'में ऐं ऐं' की ध्वनि से बकरी का भाव है। फिर तीसरे प्रभाव में अहिंसा वाली भावधारा ने बकरी के स्थान पर खाने योग्य किसी

पदार्थ की मूर्ति से काम चलाने का सुझाव दिया होगा। यह चौथ मकर संक्रान्ति के निकट पड़ती है। इस अवसर पर तिलों का महत्व है। अतः तिल की मूर्ति बनायी जाने लगी। मानव-बलि असभ्य वन्य-जातियों मे अभी कुछ समय पूर्व तक थी, विशेषकर खोंडों में। मानव बलि का कुछ संकेत मोहंजोदड़ो मे मिले ठप्पो से भी मिलता है। उनमे एक उभार मे एक वृक्ष की दो फॉकों मे भिची हुई एक मानवीय मूर्ति है। खोंडो में मनुष्य-बलि मे यही प्रचार प्रचलित था। एक वृक्ष के फटे हिस्से में बलि-पात्र को भींच दिया जाता था। मनुष्य-बलि वैदिक-काल मे प्रचलित थी यह हमें शुनःशेप के कथानक से विदित होता है। खोंडो के पुरोहित बलि करते समय बलि-पात्र से जो बातें कहते है, यह देखकर आश्चर्य होता है कि, खोंडो के पुरोहित की उन बातों के भाव वैदिक बलि देने वाले के भावों से टक्कर लेते हैं। वे जो मन्त्र पढ़ते हैं उनमें भी बलि के इतिहास की बात कहते है। हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र की कथा में हमे बलि का उल्लेख मिलता है। वेदो मे जब लोक-जीवन आदिम अवस्था मे था उस समय भी बलि का वर्णन मिलता है। इस तरह बलि के इतिहास से हमें मोहेंजोदड़ो और हरप्पा की लोकवार्ता के समझने में सहायता मिलती है। इस तरह रूढ़ियों और अन्धविश्वास की चीजो से हम इतिहास जान सकते हैं। 'शकट' की बलि मे कितना पुराना इतिहास टूट-फूट कर बचा हुआ है। इस तरह तुलना करके लोक-जीवन के अध्ययन करने की बड़ी आवश्यकता है क्योंकि रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास हमे लोक-संस्कृति का मूल बतलाते हैं। मानवीय उपयोग के लिए इनके अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। यह अध्ययन विधिपूर्वक किया जाना चाहिए।

फ्रेजर महोदय ने लोक जीवन संबन्धी समस्त रीति रिवाजों का एक संग्रह किया है जिसका नाम 'स्वर्णिम शाखा' (गोल्डन बॉउ) है। इस संग्रह ने विविध देशो की लोकवार्ता की तुलना प्रस्तुत करदी है। भारत मे भी इस प्रकार का कार्य करने की महती आवश्यकता है। भारत एक विशाल देश है। ज्ञान की साधना के लिए हम अपने क्षेत्र में ही काम करें। लोकवार्ता मे दो प्रकार की सामग्री होती है उसका बहुत बड़ा अंश तो ऐसा होता है जो व्यापक होता है। कुछ अंश केवल स्थानीय। अतः यदि एक स्थान अथवा क्षेत्र का भी लोक-अध्ययन विधिवत् कर लिया जाय तो समस्त क्षेत्र के अध्ययन मे

सुविधा हो जाय। व्रज-साहित्य-मण्डल और उसके क्षेत्र को इस दशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाना है। उसे इस लोक-अध्ययन की वैज्ञानिक-प्रणाली का साधारण रूप प्रस्तुत कर देना होगा। उससे विशेष वैज्ञानिक अध्ययन की नींव पड़ जायगी। इस क्षेत्र में इसी के लिए हमें लोकवार्ताओं का संग्रह करने की अत्यन्त आवश्यकता है। इस प्रकार संग्रह के लिए हम विद्वान् पुरुषों से एक प्रश्न माला तैयार करायें और फिर उसका उत्तर लिखें।

यह प्रश्न मालिका कुछ इस प्रकार की हो सकती है

१—गाँव का इतिहास, वहाँ कौन देवी देवता पूजे जाते हैं?

२—(१) नाम गोत्र और जन्म के बोलने का नाम? (२) पूज्यों, मृतकों का नाम क्यों नहीं लिया जाता? (३) क्यों नहीं लिया जाता? (४) अशौच और अन्तिम अवस्था में क्यों नहीं लिया जाता? (५) कुछ काल के लिए कुछ नाम लिया जाता है? (६) किसी ऐसे निषिद्ध नाम को लेने पर क्या होता है? (७) विशिष्ट अवसरों और अवस्थाओं में वे नाम बदले जाते हैं? (८) वर्षों की उत्पत्ति पर नाम कुछ होता है? पुकारने का नाम कुछ होता है? (९) इस प्रकार के निषेध के क्या कारण होते हैं?

३—कुछ जातियाँ कुछ वर्गों से किन्हीं कारणों से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं रखतीं? ऐसी जातियाँ और उनके वैवाहिक सम्बन्ध न होने वाले वर्गों का विवरण लिखिए।

[इन कारणों में कहीं-कहीं तो स्थान विशेष का विचार रहता है, और कहीं-कहीं पैतृक एकता इन सम्बन्धों में बाधक होती है]

४—उन वर्गों का उल्लेख कीजिए जिनसे बाहर कोई जाति वैवाहिक सम्बन्ध रखती ही नहीं हो।

५—कुछ वर्ग ऐसे होते हैं जिनमें स्त्री या तो उसी वर्ग में किसी पुरुष से विवाह कर अथवा अपने से ऊँचे वर्ग के पुरुष से और साथ ही पुरुष उसी वर्ग में अपना विवाह करे अथवा अपने से नीचे वर्ग में भी कर सकता है। ऐसे वर्गों का विवरण दीजिए।

६—उन सीमाओं का उल्लेख कीजिए जो किसी यथार्थ अथवा कल्पित समगोत्रता के सिद्धान्त के आधार पर बनी हैं और जो उस वर्ग में अथवा उससे बाहर होने वाले विवाहों को रोकती हों।

अमुक जाति में अभी प्रचलित हुआ है अथवा बहुत पहले से चला आता है ? यदि पहले का है तो यह कब प्रचलित हुई ?

११—क्या एक ही साथ अनेक पत्नी अथवा अनेक पति रखने की प्रथा है ? यदि है तो किन शर्तों पर और किन सीमाओं तक ? क्या अनेक पति भाई हो सकते हैं, या एसे भी हो सकते हैं जो भाई न हों ?

[ऐसी प्रथा भी होती है कि एक परिवार में जो उम्र में सबसे बड़ा हो उसी का विवाह सर्व प्रथम होगा। ऐसा भी देखा जाता है कि बाल-पति की प्रौढ़ पत्नी होती है और पति का पिता उससे सम्बन्ध स्थापित कर लेता है]

१२—सामान्यतः वैवाहिक संस्कार क्या हैं ? उनका संक्षिप्त विवरण दीजिये ?

१३—क्या विधवा विवाह समाज-सम्मत है ? क्या ऐसी दशा में पति के बड़े या छोटे भाई से ही विवाह होना आवश्यक है ? यदि ऐसा नहीं है तो विधवा विवाह की अन्य शर्तें क्या हैं ? किस प्रकार के विवाह-संस्कार हैं ? उनका अत्यावश्यक अंश कौनसा है ?

१४—तलाक किन परिस्थितियों में मान्य होता है ? क्या तलाक के बाद स्त्री विवाह कर सकती है ? इस अवस्था में विवाह का क्या रूप होगा ? क्या इस दशा में माल लेने की भी प्रथा है क्या ?

१५—किसी अमुक जाति के सदस्य पैतृक सम्पति के अधिकार के सम्बन्ध में हिन्दू-नियमों को मानते हैं अथवा मुस्लिम नियमों को ? क्या शुद्ध अधिकारी की जांच करने का कोई सामाजिक विधान है ? यदि हो तो उसका विवरण दीजिये।

१६—किस धर्म अथवा सम्प्रदाय से यह जाति सम्बन्ध रखती है ? यदि वह हिन्दू है तो किन धार्मिक देवताओं की पूजा को महत्व देते हैं और क्यों ? यदि वह प्रकृतिपूजक (Animi…t) है तो उसके धार्मिक विश्वास, उसकी रीति रिवाजों का वर्णन दीजिए ?

क्या जादू-टोने (Ma…) में इनका विश्वास है ? पूरा विवरण दीजिए।

१७—इस जाति के निम्न देवताओं (Minor …ds) के नामों का

उल्लेख कीजिए। उनको क्या भेंट दी जाती हैं? सप्ताह के किस दिन उनकी पूजा होती है और क्यों? किस वर्ग के लोग उस भेंट को स्वीकार करने के अधिकारी समझे जाते है? क्या किसी देवता या पीर की पूजा स्त्रियां और बच्चो तक ही सीमित है? क्या पूजा बिना पुरोहित के भी हो सकती है? पूजा के स्थलों (वृक्ष, पत्थर, पर्वत) का भी विवरण दीजिए? क्या बलि की प्रथा है?

१८—क्या वह जाति धार्मिक कृत्यों के लिए ब्राह्मणों को आमन्त्रित करती है? क्या इस प्रकार के ब्राह्मणों तथा अन्य ब्राह्मणों में अन्तर है? यदि ब्राह्मण यह कृत्य नहीं कराते तो और कौनसी जाति कराती है?

१९—अन्त्येष्टि क्रिया का पूरा विवरण दीजिए। मृत गाड़ा जाता है या जलाया जाता है? यदि गाड़ा जाता है तो किस प्रकार? मृत के फूल (ashes) कहाँ बहाये जाते हैं अथवा गाड़े जाते हैं? मृत्यु शोक मनाने की अवधि कब तक है? बच्चे, प्रौढ़ और वृद्ध सबके विषय में लिखिए।

२०—क्या कोई ऐसे धार्मिक कृत्य हैं जो पूर्वजों अथवा निपुत्री पूर्वजों की तृप्ति के लिए किए जाते हों अथवा उनके लिए जिनकी मृत्यु आकस्मिक हुई है? यदि हाँ तो किस प्रकार के कृत्य है और किस ऋतु में किए जाते है? श्राद्ध होते हैं क्या? स्त्री-पूर्वजों की पूजा के विषय में क्या है?

२१—वह जाति अपने आदि व्यवसायो के विषय में क्या विश्वास रखती है? किस सीमा तक उसने अन्य व्यवसायो को अपनाया है? क्या पहले व्यवसाय को छोड़ने का कारण है? उनकी कार्य-प्रणाली पर भी एक दृष्टि डालिए।

२२—यदि वे किसान हैं तो कृषि-विधान की किस स्थिति में है? जमींदार आदि।

२३—(अ) यदि वे कारीगर है तो उनका उद्योग धन्धा क्या है?
(आ) क्या शिकारी हैं?
(इ) क्या मछुए है? यदि हाँ तो कछुए और घड़ियाल भी पकड़ते हैं क्या?
(ई) यदि भंगी हैं तो पाखाना साफ करते है कि नहीं?

२४—भोजन सामग्री क्या है? गोश्त, शराब, बन्दर, चर्बी, आदि

खाते पीते हैं क्या ?

२५—वह सबसे छोटी जाति कौनसी है जिसके हाथों से जाति पक्का, कच्चा खाना खा सकती हो, पानी पी सकती हो और चिलम दे सकती हो ?

२६—पोशाक सम्बन्धी कोई विश्वास है क्या ? क्या कोई गहने अथवा हथियार ऐसे हैं जो उस जाति से विशेष रूप से सबद्ध हैं ? क्या कोई गंडा या जनेऊ (Sacred thread) बाधा जाता है ?

२७—और भी कुछ ज्ञातव्य बातें हैं क्या ?

(यह प्रश्न-तालिका श्री एच० एच० रिजले, डाइरेक्टर आव ऐथनाग्रॉफी फौर इंडिया, द्वारा प्रकाशित 'मैन्युअल आव ऐथनाग्रॉफी फौर इण्डिया' के आधार पर हैं)

इन प्रश्नों के उत्तर हम प्राप्त करें, उनके उत्तरग्रहण करते समय हमें अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है, साथ ही हमारा निरीक्षण भी सूक्ष्म होना चाहिए। इस प्रकार के अध्ययन से इतिहास पर समाज विज्ञान पर असर पड़ता है। इस दृष्टि से एक अँगरेज और हिन्दुस्तानी में कोई भेद नहीं प्रतीत होता। इस तरह मानव का एक मानव के अन्दर विश्वास पैदा होता है। आज हिन्दू और मुसलमानों का जो प्रश्न चला है वह इस अध्ययन से दूर हो सकता है। इन अध्ययनों से पता चलता है कि अमेरिका में जिस प्रकार के विश्वास मिलते हैं वैसे ही हम भारतवर्ष में भी मिलते हैं। इस तरह मालूम हुआ कि अमेरिका का मानव भी कभी भारतवर्ष के समकक्ष रहा होगा। यदि यह विश्वास मनुष्य में उत्पन्न हो जाय तो कितना मानव-कल्याण हो सकता है। इतिहास भेदों को जन्म देता है। धर्म, आचार, भेद सभ्यता का ऊपरी आवरण है। इसके अन्दर असली रूप की ओर ध्यान देने वाला लोकजीवन है। इसी के अध्ययन के लिए आप लोगों को यहाँ एकत्रित किया गया है।

आज जब हम जन-जीवन और उनकी संस्कृति के निर्माण की बात करते हैं तो सबसे पहले हमें उन रूढ़ियों के मर्म को समझ लेने की आवश्यकता है जो जानपद-जन की रग-रग में रम रही हैं, जो उनकी संस्कृति की रीढ़ हैं। तभी हम आगे बढ़ सकते हैं और निर्माण कार्य को स्थायी रूप दे सकते हैं। अब तक हम इतिहास के रूप को लेकर आगे बढ़े हैं और लोगों के सुधारने की कोशिश की है। हमारा

ढंग सुधार को आरोपित करने का रहा है। आज हमें साधारण जीवन के मार्ग से होकर आगे कदम उठाने की जरूरत है। जन-जीवन के मर्म और मानस को समझ कर उसी के अनुकूल निर्माण के आदर्शों को बनाकर उस जन को ऊपर उठाते चलने की आवश्यकता है।

संस्कृति और सभ्यता दो शब्द हैं। संस्कृति का सम्बन्ध संस्कार से है। संस्कार का अर्थ है विशेष रूप से संस्कार किया हुआ। इस संस्कार का सभ्यता के कृत्रिम और बाहरी संस्कार से महान् अन्तर है। जिनकी हमारे बातों की निजी जीवन से घनिष्ठता है वे संस्कृति के अन्तर्गत आती है। वही हमारे आचार की भूमि बन कर हमारी संस्कृति का निर्माण करती है। लोकजीवन का संस्कृति से बहुत गहरा मेल है, इन संस्कृतियो के अनेक रूप गांवो में हमे मिलते हैं।

खाना-पीना मनुष्य का धर्म नहीं यह पशु धर्म है। 'आहार निद्रा भय मैथुनानि समानमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।' इस तरह आगे बढ़कर मनुष्य जब औरों के लिए सहानुभूति का द्वारा खोलता है तब वह मनुष्य बनता है। मनुष्य के विकास का वास्तविक रूप संस्कार है। 'साहित्य संगीत कला विहीन' साक्षात पशु पुच्छ विषाण हीन :'

हमारे गॉव किसी समय अत्यन्त स्वस्थ और संस्कृत थे। गांवों की स्थापत्य कला, स्त्रियो द्वारा बनाई गयी चित्रकला, मूर्ति तथा देवताओं की मूर्तियों से जान पड़ता है कि यथार्थ संस्कृति हमारे ग्रामीण जीवन से ही थी। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इन्हें उसी स्थिति मे रहने देना है। आज ग्रामीण जीवन बहुत जर्जरित हो उठा है इसलिए वहां के आदमियो की ऐसी कलाओं पर से श्रद्धा हटती जा रही है, वहां की कलाओं का विकास रुकता सा जा रहा है। व्यवसायी होने के कारण मनुष्य की बुद्धि का ह्रास होता जा रहा है। जहां गांवो के लोग एकांत मे बैठ कर ग्रह-नक्षत्रों का पता लगाया करते थे व्यवसायी होने के कारण इनकी ओर अब उनका ध्यान ही नहीं जाता। इसलिये आज हमें इस बात की बहुत जरूरत है कि हम गांव में जाएं और वहां की संस्कृति के केन्द्रों ग्रामों और ग्रामीणों का अध्ययन करें। उन पर जो पशुता और अज्ञान का आक्रमण हो रहा है उससे बचाकर उनमें बद्धमूल मानवीय धर्मों का उद्घाटन करके उस हीनता को जीतने की चेष्टा करें। इस तरह हम लोक-जीवन के अध्ययन को समझें और घर-घर उसका प्रचार करें।

ब्रज भा र ती: एक मौखिक परम्परा

[श्री देवेन्द्र सत्यार्थी]

ब्रज की सीमाएँ निश्चित करने का कार्य किसी पुरातत्ववेत्ता अन्वेषक पर छोड़ कर अभी मोटे रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि दिल्ली के दक्षिण से लेकर इटावे तक तथा अलीगढ़ से लेकर धौलपुर और ग्वालियर तक इसी जनपद का प्रसार है। ब्रज का अतीत अत्यन्त सुन्दर और गौरवमय है। इसी अतीत से सम्बन्धित इस जनपद की मौखिक परम्परा है जिसकी जड़ें धरती में है। यहां के लोकगीत इसी महामहिम मौखिक परम्परा के प्रतीक हैं। लोक कथाओं में भी इसी की रूपरेखा प्रदर्शित होती है, लोकोक्तियां तथा पहेलियां भी इसी के अन्तर्गत आती हैं। बहुत से टोने-टोटके और जन्त्र-मन्त्र भी इसी में आश्रय ग्रहण करते हैं और युगयुगान्तर से चले आने वाले लोक-विश्वासों से नाता स्थिर किए हुए हैं। समूचे रूप से इस मौखिक परम्परा का अध्ययन किया जाय तो एक निष्कर्ष यह निकलता है कि एक समय था जब मानव प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था। उस समय वैयक्तिक रुचि भिन्नता के स्थान पर सामूहिक भावना का आधिपत्य था। बल्कि यह कहा जा सकता है कि उस समय मानव जीवन में संघर्ष कम था और नैसर्गिक प्रवाह अधिक। सभी जनपदों की यही अवस्था थी। एक हमारे देश ही में नहीं, समस्त संसार के देश उनके अनेक जनपद इस प्रकार के युग से गुजर चुके हैं। हर कहीं के जीवन की पृष्ठभूमि में मौखिक परम्परा के अतीत को छूती हुई और धरती की आस्था में बँधी हुई गाथा सुन कर हम आनन्दित हो उठते हैं। इस गाथा में प्रत्येक व्यक्ति समूचे कुटुम्ब, जाति या राष्ट्र का प्रतिनिधि नजर आता है, और सच पूछा जाय तो अतीत के इस मानव के सम्मुख आज के उन्नत युग का सिर झुकने लगता है।

मौखिक परम्परा की अनेक परतें हैं। यह अन्वेषक का कार्य है कि वह एक-एक परत का अध्ययन करे और इस के पश्चात समूचे

निष्कर्षों के आधारों पर देश की आयुष्मती आत्मा का इतिहास लिखने में सहायक बने। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने एक स्थान पर लिखा है: "जानपद जन के रूप में लोक के एक सदस्य का जब हम दर्शन करते हैं तो हमें समझना चाहिए कि जीवन की अनेक बातें ऐसी हैं जिन में हम उसे अपना गुरु बना सकते है। देहरादून के सुदूर अभ्यंतर में स्थित लाखामंडल गांव के परमा बढ़ई से जो सामग्री हमें प्राप्त हुई वह किसी भी प्रकाशित पुस्तक से नहीं मिल सकती थी। जौंसार बाबर के उस छोटे गाँव के शिव-मंदिर के आँगन में खड़े हो कर हमारे मित्र पं० माधवस्वरुप जी वत्स सुपरिंटेंडेंट आफ आर्किओलाजी, आगरा, जिस समय भोली भाली जौंसारी स्त्रियों के मुख से दूबड़ी आठें (भाद्रपद शुक्ल अष्टमी) के त्यौहार का, और अवसर पर छामड़ा पेड़ की डालों से बनाये जाने वाले आदम कद दानव का, जिसे वहाँ 'छामड़िया दानौं' कहते हैं, हाल सुनने लगे तो उन्हें आश्चर्य चकित हो जाना पड़ा कि इस दूबड़ी की पूजा में मातृत्व-शक्ति की पूजा की वही परम्परा पाई जाती है जो उन्हें हरप्पा की मूर्तियों में मिली थी। इसी जौंसार प्रदेश की चिया बिया प्रथा (बिया = जेठे भाई के साथ स्त्री का विवाह; चिया = अन्य छोटे भाइयों का उसके साथ पत्नीवत् व्यवहार) के विषय में और अधिक जानने की किसे इच्छा या उत्सुकता न होगी? ये और इन जैसे अनेक विषय लोकोवार्त्ता के अन्तर्गत आते हैं, जिनका वैज्ञानिक पद्धति से संकलन और अध्ययन अपेक्षित है।" १

'लोकवार्ता' शब्द नया नहीं। परन्तु इसका वर्तमान प्रयोग अवश्य नया है। इसके लिये हम श्री कृष्णानन्द गुप्त के ऋणी रहेंगे जिनके परिश्रम से बुन्देलखड में लोकवार्ता-परिषद् स्थापित हो चुकी है और जिनके सम्पादकत्व में 'लोकवार्ता' पत्रिका एक देशव्यापी कमी को पूरा कर रही है। ब्रज-साहित्य मंडल की मुख्य पत्रिका 'ब्रज भारती' भी लोकवार्ता के अध्ययन में बहुत सहयोग दे सकती है। लोकवार्ता शब्द अँग्रेजी के 'फोकलोर' से कहीं अधिक अर्थ पूर्ण है। जनता जो कुछ युग-युग से कहती और सुनती आई है, अर्थात्, मौखिक परम्परा की समूची सामग्री, वह सब लोकवार्ता के अन्तर्गत आ जाती है।

१. लोकवार्ता शास्त्र: लोकवार्ता। जून १९४४, पृ० ७-९

लोकवार्ता केवल अतीत की वस्तु हो, यह बात नहीं। अतीत से लेकर अब तक की समस्त बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक और सामाजिक गति-विधि का सम्पूर्ण इतिहास लोकवार्ता मे निहित रहता है। इसके बिना देश के वास्तविक इतिहास का निर्माण असम्भव है।

विदेशों में लोकवार्ता का नृ शास्त्र, समाज शास्त्र, भाषा-शास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान और पुरातत्व से घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। यूरोप के प्रत्येक छोटे-बडे राष्ट्र की अपनी लोकवार्ता-परिषद् है। अनेक अन्वेषकों और विद्वानों ने इस दिशा म महान कार्य किया है। एंड्रयू लैंग, ग्रान्ट एलन, मैक्समूलर और हर्बर्ट स्पेंसर से लेकर प्रोफेसर वेस्टरमार्क, सर जे० जी० फ्रेजर और सर जी० एल० गोमे जैसे विद्वान महान अन्वेषण करते आ रहे हैं। अकेले फ्रेजर का 'गोल्डन बाउ' ग्रन्थ जिसे इस विषय की 'बाइबिल' कहा जा सकता है, बारह मोटी मोटी जिल्दों मे शेष हुआ है, और इस ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण जिसके बडे आकार के ७५२ पृष्ठ हैं, इस विषय के प्रत्येक विद्यार्थी के हाथों में होना चाहिए। यूरोप की अनेक भाषाओं मे इस ग्रन्थ के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। यदि कोई संस्था इस के संक्षिप्त संस्करण ही का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का भार अपने जिम्मे लेले तो इसकी पहुँच उन विद्यार्थियों और विद्वानों तक सम्भव हो सकती है जो अंग्रेजी से अनभिज्ञ हैं।

हमारे देश मे टेम्पल और ग्रीयरसन के पश्चात अब विलियम जी० आर्चर और वैरियर एलविन ने मौखिक परम्परा के संकलन तथा वैज्ञानिक अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया है। इनकी प्रेरणा से विशेषतया हमारे लोकगीत आन्दोलन को शक्ति प्राप्त हुई है, हिन्दी में श्री रामनरेश त्रिपाठी के यत्नशील उद्योग से ग्रामगीत संग्रह तथा प्रकाशन की नींव पड़ी, और उनके इस कार्य के सम्बन्ध में एक आलोचक की सम्मति से मैं पूर्णतया सहमत हूँ कि न्यायपूर्वक हमें यह बात स्वीकार करनी पडेगी कि इस दिशा मे उनका प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय है, और भविष्य म वे अपनी अन्य रचनाओं की अपेक्षा कविताकौमुदी पाँचवे भाग के द्वारा ही भावी जनता के श्रद्धा भाजन बनेंगे।

परन्तु त्रिपाठी जी से कुछ लोगों को यह शिकायत रही कि

उन्होंने अपने संग्रह में बुन्देलखण्ड और ब्रज के गीतों को स्थान नहीं दिया। मैं यह कभी नहीं मान सकता कि त्रिपाठी जी ने जान-बूझ कर इन दोनो जनपदो के प्रति उपेक्षा दिखाने की भूल की है। अतः मैं इसे अनुदारता ही कहूँगा कि किसी ग्रन्थ की आलोचना करते समय निजी पक्षपात को बीच मे ले आयें। बहुत से अन्य जनपद भी तो ऐसे हैं जिनके गीतों को वे अपने ग्रन्थ मे स्थान नहीं दे पाये। परन्तु यह दोष या कमी दिखाकर कोई उनके कार्य की महानता और पथ-प्रदर्शन से तो इनकार नहीं कर सकता।

ब्रज की लोक-कविता की प्रशंसा मैंने पहले-पहल सन् १९३२ में बनारसीदासजी चतुर्वेदी और श्रीराम शर्मा से सुनी। इसके दो वर्ष पश्चात् चतुर्वेदीजी ने अनुरोध किया कि मुझे ब्रज-यात्रा के लिये तुरन्त चल देना चाहिए। परन्तु मैं काश्मीर और सीमाप्रान्त की यात्रा पर चल पड़ा। उधर से लौटा तो मेरे पाँव मुझे गुजरात और राजस्थान की ओर ले गये। सन् १९३७ मे फिर चतुर्वेदीजी ने ब्रज-यात्रा का ध्यान दिलाया और यहाँ तक कह दिया कि यदि मैंने ब्रज की अधिक अवहेलना की तो वे लिखकर इसकी कड़ी आलोचना करेंगे। यद्यपि मुझे इस बात का एतराफ करने से कुछ संकोच नहीं कि मैं एक ब्राह्मण के शाप के भय से ब्रज मे पहुँचा था, परन्तु इसे भी कदाचित् किसी देवता का प्रसाद ही समझना चाहिए कि पहली ही यात्रा में मेरी दो सज्जनों से भेंट हुई जिनके हृदय और मस्तिष्क में ब्रज की मौखिक परम्परा के लिए अगाध आस्था और चेतना देखने में आई। मेरा संकेत श्री वासुदेवशरण अग्रवाल तथा श्री सत्येन्द्र की ओर है, जिनके सहयोग से इस जनपद मे कई केन्द्रों मे रहकर मैंने ब्रजभारती की सङ्गीतमय वाणी सुनी और ब्रज की संस्कृति के प्रतीक बहुत से लोक-गीत स्त्रियों और पुरुषों के मुख से सुन-सुन कर ज्यों के त्यों लिख डाले। अगले वर्ष सन् १९३८ मे मैं फिर ब्रज मे पहुँचा, और इस बार फिर इन दोनो मित्रो के सम्पर्क से अपने अध्ययन को अधिक गहरा करने के अवसर प्राप्त हुए। इस बार श्री सत्येन्द्रजी की पत्नी द्वारा संग्रहीत कुछ सुन्दर और उपयोगी गीत मुझे मिल गये। यह सुनकर मुझे बहुत खेद हुआ कि इस देवी का देहावसान हो चुका है। अतः उसके ऋण से उऋण होने का कोई उपाय न देखकर मैं केवल उसकी

आत्मा को बारम्बार प्रणाम कर सकता हूँ।

ब्रज की अपनी दोनों यात्राओं के पश्चात मैं इच्छा रहने पर भी फिर से इस जनपद के ग्रामों में नहीं घूम सका। कई बार सोचा कि अपने अध्ययन की कुछ बातें लिखकर ब्रजभारती के सम्मुख दो पुष्प चढाऊँ। परन्तु मैं जब भी इन गीतों को खोलकर बैठा तो इनके रसास्वादन तथा वैज्ञानिक अध्ययन में इतना खो गया कि मैंने यही अच्छा समझा कि थोड़ा और रुक जाऊँ ताकि इस आयुष्मान और पुष्कल मौखिक परम्परा की सामग्री का समुचित परिचय कराने योग्य हो सकूँ।

इस बीच में श्री वासुदेवशरण और श्री सत्येन्द्रजी से कई बार भेंट हुई। सत्येन्द्रजी ने ब्रजभारती के सफल सम्पादन के अतिरिक्त इस जनपद की लोकवार्ता और विशेषतया यहाँ के गीतों के वैज्ञानिक सङ्कलन का जो आन्दोलन चला रखा है उसके समाचार सुनकर मुझे अत्यन्त सन्तोष हुआ और वासुदेवशरणजी ने अपनी लेखनी द्वारा मातृभूमि के लोक-जीवन तथा लोकवार्ता की वास्तविक महत्ता कुछ इस ढङ्ग से प्रदर्शित की है कि इसके द्वारा मेरे सम्मुख एक नया तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाश आता चला गया। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

"ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है—जितनी बड़ी पृथिवी है, उतनी ही बड़ी वेदि है। इस परिभाषा का अर्थ यह है कि जितना भी विश्व का विस्तार है उसका कोई अंश ऐसा नहीं है जो मनुष्य के लिए काम का न हो अर्थात जो मानवी यज्ञ की परिधि से बाहर हो। जो यज्ञ की वेदि में आ जाता है, वही यज्ञीय या मेध्य होता है, वही मनुष्य के केन्द्र के अन्तर्गत आ जाता है जो कुछ उस वेदि के खम्भे से नहीं बाँधा जा सका वह अमेध्य होता है। हम एक जीवन में जो यज्ञ का खम्बा खड़ा करते हैं जो कुछ उस खम्बे से नहीं बाँधा गया वह उस जीवन के लिए उपयोगी नहीं बन पाता। यज्ञ से जो बहिर्भूत है उसे यज्ञ के अन्तर्गत लेने का प्रयत्न जन्म जन्मान्तर में चलता रहता है। लोकजीवन के अपरिमित विस्तार को हमारा बारम्बार प्रणाम है जितना लोकजीवन, उतना ही विशाल तो मानव है। मानव के बाहर लोक में कुछ भी शेष नहीं रहता। अथवा जैसा वेदव्यास ने महाभारत में बड़े

उदार शब्दों में कहा—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।

अर्थात् रहस्य ज्ञान की एक कुंजी तुम्हें बताता हूँ कि इस लोक में मनुष्य से बढ़कर और कुछ भी नहीं है। इस सूत्र में लोकजीवन और सभी तरह के ज्ञान का मूल्य आँक दिया गया है। मनुष्य से सब नीचे है, मनुष्य सबसे बढ़कर है। जो ज्ञान मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं वह दो कौड़ी का है। लोकवार्त्ता-शास्त्र भी यदि वैज्ञानिक के शुष्क कुतूहल के लिए हो तो वह जीवन के लिए अनुपयोगी ही रहता है। मानव के प्रति सहानुभूति और मानव के कल्याण की भावना लोकवार्त्ता-शास्त्र को सरलता प्रदान करती है। लोक-वार्त्ता-शास्त्र की प्रतिष्ठा अन्ततोगत्वा मानव-जीवन के प्रति नई प्रतिष्ठा के भाव की स्वीकृति है। भारत जैसे देश मे जहाँ लोकवार्त्ता और लोकजीवन बहुत ही शांतिपूर्ण सहयोग और निर्विरोध आदान प्रदान के द्वारा फूला फला है, लोकवार्त्ता-शास्त्र का बड़ा विस्तृत क्षेत्र है। कौनसा विश्वास कहाँ से उत्पन्न हुआ, बीज रूप से जन्म लेकर मस्तिष्क और मन का कौन सा भाव वटवृक्ष की तरह चारो खूंटो की भूमि को दबा बैठा है, विकास परम्परा मे कौन कहाँ से कहाँ पहुँच गया है, इन सब का विश्लेषण बहुत ही महत्वपूर्ण होगा। क्योंकि वह अनेक प्रकार से एक ही प्रधान तत्व की विजय को सूचित करता है, और वह महान् धार्मिक तत्व मनुष्य का मनुष्य के लिए सहिष्णुता का भाव है। वनोंके निषाद और शबरों के प्रति भी हिन्दुधर्म ने सदा सहिष्णुता की आरती सजाई है . ..चतुर्दिक जीवन के साथ सहानुभूति और सहिष्णुता का भाव इसकी विशेषता रही है। आज का हिन्दु धर्म भारतवर्ष के महाकान्तार दंडकारण्य की तरह ही विशाल और गम्भीर है जिसमे अपरिमित जीवन के प्रतीक एक दूसरे के साथ गुथ कर किलोल करते रहे है।" १

धरती मानव की जननी है। उसकी बांहें अगाध प्रेम और सहानुभूति की प्रतीक है। इसी मिट्टी से अन्न उगता है जो मानव को जीवित रखता है। धरती माता की कल्पना, अन्य भारतीय लोकगीतो ही की भाँति ब्रज की भी विशेषता है। मथुरा से तीन मील

१। 'महामहिम लोकजीवन' लोकवार्त्ता, जनवरी १६४६, पृ० ६४-६६

की दूरी पर महोली ग्राम में सुना हुआ गीत, जिसका बोआई के समय मन्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता है, अत्यन्त स्थानीय वस्तु होते हुए भी सार्व भौमिकता के स्तर तक उभरता दिखाई देता है

धरती माता ने हरयौ करयौ
गऊ के जाये ने हरयौ करयौ।
जीव जन्त के भाग ने हरयौ करयौ,
महोली खेड़े ने हरयौ करयौ।
गंगा माई ने हरयौ करयौ,
जमुना रानी ने हरयौ करयौ।
धना भगत को हर ले हेत,
बिना बीज उपजायो खेत।
बीज बच्यौ सो सन्तन खायौ,
घर भर आँगन भरयौ।

यह गीत लिखाने वाले वयोवृद्ध किसान ने बताया था कि इस जनपद में बांस का पोरा जिस में से बोआई करते समय बीज डालते जाते हैं, बोआ कहलाता है, बीज हमेशा चक्करदार गोलाई में डाला जाता है। एक चक्कर को 'फरा' कहते हैं, और एक चक्कर जिसके अन्तर्गत जलेबी की भाँति कई बड़े छोटे कुण्डलाकार चक्कर डाले जाते हैं, कुण्ड के नाम से पुकारा जाता है। 'कुण्ड' के अन्तर्गत अन्तिम 'कुण्ड' के रूप में बीज डालते समय विशेष रूप से इस गीत का महत्व माना जाता है। युग-युग से बैल के कन्धे पर अन्न उगाने का भार है। 'गंगा माई' और 'जमुना रानी' की कृपा भी आवश्यक है, यों प्रतीत होता है कि गीत की अन्तिम पंक्ति से पहले की तीन पंक्तियाँ जिनमें धना भगत का जिक्र किया गया है, बाद में जोड़ दी गई हैं। यह बात याद रखने की है, लोकगीत का रूप बदलता रहता है। ज्येष्ठ और आषाढ में समस्त जनपद में यह 'रसिया' गूँज उठता है।

'आयो जेठ आषाढ बन बोय दे रे सिपाहिरा'

कपास के लिये 'बन' शब्द का प्रयोग बहुत पुराने समय की याद दिलाता है। सिपाही से कपास बोने की बात क्यों कही जा रही है ? इस प्रश्न का उत्तर कुछ यों दिया जा सकता है कि 'रसिया' की परम्परा उस समय का स्मरण कराती है जब एक प्रकार से प्रत्येक

किसान सिपाही समझा जाता था क्योंकि आक्रमणकारियों से युद्ध करने के लिए राज्य को किसी भी समय नई सेना की आवश्यकता पड़ सकती थी अतः किसान को इतनी भी आशा नहीं होती थी कि जो फसल वह आज अपने हाथों से बो रहा है, पकने पर वह उसे काट भी सकेगा।

जैसे आक्रमणकारी किसी देश पर धावा बोल देते हैं, ऐसे ही किसान की सम्पत्ति पर टिड्डीदल आक्रमण करता है, और उस समय यदि पति परदेश में हो तो पत्नी बेचारी क्या कर सकती है? इसी विपत्ति का एक सजीव चित्र देखिए :—

टीड़ी खाय गई बन कौ पत्ता, मेरौ बलम गयौ कलकत्ता।
टीड़ी आई जोर जुलम सो, घर मे रह्यो न लत्ता॥
भैया मेर बन्द मेरो रोकन लागे, नेंक न छोड़यो रस्ता। टीड़ी आई,
लोग लुगाई देखन लागे, ऊपर चढ़ कै अट्टा, टीड़ी आई।
रोटी पानी कछू न कीनी, भूल गई सब रस्ता। टीड़ी आई....

कलकत्ते के जिक्र से इतना तो प्रत्यक्ष है कि इस गीत की आयु एक आध शताब्दी से अधिक नहीं हो सकती। यह भी संभव है कि कलकत्ते का जिक्र पुराने गीत पर पैबन्द के रूप में लगा दिया गया हो, जैसा कि मौखिक परम्परा की सामग्री मे और भी अनेक स्थानों पर देखने में आया है। यह एक नारी की व्यथा का चित्र नहीं, यहाँ समस्त जनपद का कष्ट अभिव्यक्त हुआ है। नारी टिड्डीदल से कपास का खेत बचाने की चेष्टा करती है परन्तु बिरादरी के अन्य लोग उसका रास्ता रोक कर खड़े हो जाते हैं। स्त्रियां अपने अपने कोठे पर चढ़ कर इस मृत्यु के बादल का निरीक्षण कर रही हैं। टिड्डीदल का जोर जुल्म रोकने का उपाय किसी की समझ मे नहीं आता। इस वेदना मे एक सांकेतिक वेदना है जो नायिका की पुकार को समूचे वर्ग की पुकार का रूप दे देती है।

रूस की एक आख्यायिका है कि जब भगवान ने उपहार बांटे तो उन्होंने यूक्रेन निवासियों को बिल्कुल भुला दिया और अन्त में उन्होंने यूक्रेन-निवासियों को संगीत का उपहार देकर खुश किया। इसीलिये कहा जाता है कि यूक्रेनी लोकगीत जर्मन लोकगीतों से कहीं अधिक गहरे और रूसी गीतों से कहीं अधिक मधुर होते हैं, यदि

ब्रज निवासी चाहें तो इसी से मिलती जुलती आख्यायिका की सृष्टिकर सकते हैं, क्योंकि ब्रज के लोक गीतो मे दोनों गुण यथेष्ट मात्रा में नजर आते हैं, इनमें भावों की गहराई भी है और सगीत का माधुर्य भी। 'झूला रे झूलत नागन डस गई' यह एक स्त्री-गीत की टेक है जिसे युवतियाँ झूले की रस्सिया को हवा में उछालते हुए मधुर लय में गाया करती हैं।

गूलरिया झक झालरी, गूलर रहे गदकार,
झूला रे झूलत नागन डस गई।
डस गई उँगली के बीच,
झूला रे झूलत नागन डस गई।
ससुर ते कहिओ मोरी बीनती,
सास ते सात सलाम।
झूला रे झूलत नागन डस गई।
वा हर हारे ते नियों कहिओ,
तेरी धन खाई काले नाग।
झूला रे झूलत नागन डस गई।
हर तौ छोड्यो खेत में,
म्याई ते खाई आ पछार।
झूला रे झूलत नागन डस गई।
का लाऊँ तो को बायगी,
का लाऊँ बैद हकीम।
झूला रे झूलत नागन डस गई,
दिल्ली ते लाऊँ तो को बायगी,
मथुरा ते लाऊँ बैद हकीम,
झूला रे झूलत नागन डस गई।

गीत का मर्म स्थल वही है जहाँ किसान को यह समाचार मिलता है कि गूलर के पेड पर झूला झूलती उसकी पत्नी को नागिन ने काट खाया है और वह हल छोड कर उसकी चिकित्सा की चिन्ता में मथुरा और दिल्ली तक हो आता है। यह नहीं बताया गया कि यह झूले की नायिका बच गई या प्राण छोड़ गई। यह कल्पना की जा सकती है कि यह कोई साधारण स्त्री नहीं होगी और पहली बार

ससुराल आने पर उसके हृदय से भी यह गीत फूट निकला होगा—

रवादार ककना को मेरे पहरे ?
बेर बेर काकी, बेर बेर दादी को मेरे टेरे ?

ग्रामों में ऐसी कल्पनाशील युवतियाँ अब भी मिल जाँयगी जो पायल का यह महत्व समझती हों कि इसकी झंकार सुन कर ससुराल में सास स्वयं द्वारा तक चली जायगी और कहेगी—आगई, बहू और इस प्रकार बहू को बाहर से पति की काकी या दादी को आवाज़ दे कर अपने आगमन की सूचना देने का कष्ट नहीं करना पड़ेगा।

इसी सजीव कल्पना के जादू से घर के कच्चे कोठे में 'रंगली रावटी' और हलवाहे पति में 'आलीजां' का स्वप्न देखने की चेष्टा की जाती है। यह भी समझ लिया जाता है कि चाँदनी रात के समय भी जब कि कमखर्ची के विचार से साधारण तेल का दिया भी बुझा दिया जाता है, 'तेल फुलेल' का दीया जल रहा है:

चन्दा की निरमल रात, एजी कोई आलीजा बुलावै
रंगली रावटी जी महाराज
मैं कैसे आऊं महाराज एजी कोई आड़ी तो सोवै त्यारी मायलीजी महाराज
जरि रह्यौ तेल फुलेल एजी कोई सबरी रैन दिवला बले जी महाराज
चलीऊं बाबल के देस एजी कोई घड़ा तो भरा दऊं तेल फुलेल
को जी महाराज।

यह तो प्रत्यक्ष है कि इस कल्पना का मध्यकालीन जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भी कहा जा सकता है कि लोकगीत केवल निम्न वर्ग ही की बपौती नहीं मध्यवर्ग की भी प्रिय वस्तु है क्योंकि यहां उनके जीवन के सजीव चित्र भी सुरक्षित हैं। 'विजयरानी का गीत' मध्यवर्ग के जीवन का प्रतीक है:

चार बुर्ज चारों ओर बीच अटरिया ए विजैरानी ईंट की जी।
हात दियल सिर सौर धमकि अटरिया ए विजैरानी चढ़ गई जी॥
खोलो राजा बजर केवार भीजे ए राजा त्यारी गोरड़ी जी।
नाएं खोलू बजर केवार पराए पुरख ते ए डावर नैनी चौं हँसी जी॥
आई धन तन मन मार मरख कै बैठी ए विजैरानी देहरी जी।
लौहरी ननद बूझै बात आज अनमनी ए विजैरानी चौं भई जी॥

त्यारो भइया असल गँवार रूप न जानौ ए बिजैरानी के जीअ की जी
करो भाभी सोलेहुँ सिंगार पटिया तो पारो चोखे मोम की जी।
हाथ निवल सिर सौंर धमकि अटरिया ए बिजैरानी चढ गई जी॥
खोलो भइया बजर केवार बाहर भीजे ए तिरन क त्यारी गोरडी जी।
भीजें भीजन चौं न देउ पराए पुरख ते ए बिजैरानी चौं हँसी जी॥
जाको भइया हँसनों सुभाय हँसिजा तो जायगो ए बिजैरानी ढक लइजी।
रोई धन हीअरा हिलोर आँसू तो पोंछे ए भँवर सूए पेचते जी॥
जीऐ लाली त्यारो वीर भँवर मिलाओ ए ननद रानी तैं कियो जी।
दउँगी लाली दक्खनों चीर गिरी ए छुहारो ए ननद त्यारे मुख भरूँ जी॥

गीत की भाषा मे एक स्थान पर 'डावरनेनी' प्रयोग मिलता है जिस का अर्थ है 'बडी बडी आँखों वाली'। एक सज्जन के कथनानुसार 'डावरा' शब्द का अर्थ होता है 'बडा दोना' और डावर नैनी का 'डावर' शब्द इसी 'डवरा' का दूसरा रूप है। कुछ भी हो 'डावर नेनी' इस जनपद के लोकगीतों मे प्रचुर मात्रा में मिलता है। यदि विजयरानी 'डावर नेनी' अर्थात् लोक परम्परा के अनुसार असाधारण सुन्दरी न होती तो उसके पति ने बिरादरी के किसी अन्य पुरुष से हँसते देख कर उसके चरित्र पर सन्देह न किया होता। इसी मनोमालिन्य के कारण वह विजयरानी को हाथ म दिया थामें आते देख कर 'बजर केवार' बन्द कर लेता है। भला हो विजयरानी की ननद का जिसने अपने भैया को समझाया कि विजयरानी निर्दोष है क्योंकि हँसकर बोलना डावरनैनी के स्वभाव मे सम्मिलित है। झट 'बजर-केवार' खोले जाते हैं और विजयरानी अपने पति से मिल सकती है और ननद को पहनने के लिए दक्खिण का चीर और खाने के लिए गिरी छुआर पुरस्कार-स्वरूप देने की बात सोच रही है।

सामाजिक परिस्थितियों की पडताल मे लोकगीत पग-पग पर हमारा साथ देते हैं। अब एक और प्रसङ्ग लीजिये जो उत्तर-भारत के अनेक जनपदों के लोकगीतों मे मिलता है। पति एक साधारण 'बटाऊ' या बटोही के वेष में अपने ग्राम के समीप अपनी पत्नी के मन की परीक्षा लेने का यत्न करता है—

बर के गोदे झूल्ती, रे बटाऊ डोला, सात सहेलिन बीच।
सातौन के मुख ऊजरे, मेरी डावर नैनी, त्यारो घों र मेलौ भेस॥

सातौन के ढोला घर रहे, रे बटाऊ ढोला, हमरे गये परदेस।
संग चलौ तौ ले चलूँ, मेरी डाबर नैनी, चलौ न हमारे साथ॥
सोने सौं कर देउँ पीयरी, मेरी डाबर नैनी, चाँदी सों सेत सुपेत।
आगि लगाऊँ तेरे पीयरी, रे बटाऊ ढोला, सौंछन बड़ौ रे अँगार।
डाढ़ी तो जारूँ तेरे बाप की, रे बटाऊ ढोला, जरिजईयौ सेत सुपेत।
जिन पीयन के रे हम गोरड़ी, रे बटाऊ ढोला, तुमसे भरें कहार॥
एक बटाऊ ढोला नियों कहे, मेरी सासुल रानी, चलो न हमारे साथ।
कैसे तो विनके कापड़े, मेरी बहुअल रानी, कैसी सूरत उनहार॥
धौरे तो विन के कापड़े, मेरी सासुल रानी, लौहरे दिवर उनहार।
वेही तुमारे सायबा, मेरी बहुअल रानी, गई चौं न विन के साथ॥
भाजूँ तौ पहुँचूँ नहीं, मेरी सासुल रानी, हेला देते आवे लाज॥

इस गीत में 'डाबर नैनी' अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयोग प्रतीत होता है। 'डाबर' उस नीची जमीन को कहते हैं जहाँ पानी ठहरा रहे। तुलसीदास ने एक स्थान पर लिखा है 'भूमि परत भा डाबर पानी, जिम जीवहि माया लपटानी।' किन्तु डाबर नैनी या डाबर जैसी बड़ी बड़ी आंखों वाली सुन्दरी का प्रयोग एक नये चित्र की सृष्टि करता है, और हमे पीयरे लूई की 'अफ्रोडाइट' याद आती है जिसमे हिन्दुस्तानी गुलाम कन्या जलंतशचन्द्रा क्राइसिस की सुन्दरता का बखान करते हुए कहती है: 'तेरे केश मधुमक्खियो के झुण्ड के समान हैं जो किसी बड़े वृक्ष की टहनियो से उलझ गई हों। और तेरी आँखें ऐसी गहरी झीलें है जिन पर वेदमुश्क की टहनियाँ झुकी हुई हों।' 'डाबर नैनी' कहकर ब्रज के लोक-मानस ने इस से मिलती जुलती छवि चित्रित की है। जिन्होने अजन्ता के चित्र देखे है वे कह सकते हैं कि भिक्षु चित्रकारों ने डाबर नैनी नारी ही को पग पग पर उपस्थित किया है। डाबर नैनी नारियों की आज भी ब्रज के ग्रामो मे कुछ कमी नहीं। बड़ी बड़ी आँखें, जिन मे आर्द्रता की यथेष्ट मात्रा उपस्थित हो, लोक कवि के लिए आज भी प्रेरणा की वस्तु हैं।

ब्रज की 'डाबर नैनी' की बहिनें गढ़वाल मे भी मिलेंगी जिन के सत की परीक्षा के गीत बड़े अनुराग से गाये जाते हैं। रामी का गीत इस तरह आरम्भ होता है।

बाट गोडाई कस तेरो गाऊ
बोल बौराणि क्या तेरो नाऊ
घाम दोफरा अब होई गैगे,
एकली नारी तू खेत रैगे।
धुर जेठाणा तेरा कस छीन
तौंकी जनानी कख गई गीन

अर्थात हे रास्ते के खेत मे निराई करने वाली, तेरा ग्राम कहा है। बोल, बहू रानी तरा क्या नाम है। अब दोपहर का घाम हो गया। तू अकेली नारी खेत मे रह गई। तेरे देवर और जेठ कहा है। उनकी पत्नियां कहा चली गई।

गढवाली गीत काफी लम्बा है। इसी का एक रूपान्तर कुमायूँ में भी प्रचलित है, जिस मे रामी के स्थान पर रूप का परिचय प्राप्त होता है, कमायूनी गीत का आरम्भ देखिये —

बाटा मे की सेरी रुपा वे यकली वय धान गोडे
यक्ली मैं हुँलो बटआ दुस्ली कै लौंलो हो
कथ गया त्यरा रुपा बौराणी ज्यठाणी वै
कथ गया त्यरा धवर ज्यठाणा हो
कथ कई तेरी रुपा वे ननद पौणी हो
या कई त्यरा रुपा वै सासु सौरा हो

अर्थात् रास्ते के निकट के खेत मे, हे रुपा, तू क्यों अकेली धान निराती है। हे पथिक, मैं तो अकेली ही हूँ। अपने साथ किसे लाऊँ। रुपा, तेरी देवरानी जेठानी कहाँ गई, तेरे देवर जेठ कहाँ गये ? रूपा, तेरी ननद और पौणी (पति की बड़ी बहिन) कहाँ गई ? रूपा, तेरे सास ससुर कहा गये ?

यह गीत भी लम्बा है। इसी श्रेणी के एक पंजाबी लोकगीत का आरम्भ इस प्रकार हुआ है —

खूह ते पानी भेरदिए घुट कु पानी पिया
आपणा ते भरिया बारी न न्यिों लज्ज पई भर पी
लज्ज तेरी नू घुघर गोरिए हथ्थ लावों झड जा
हेठ दा घोडा मर जाय काठी रह जाय हथ्थ

घर जांदियाँ नूँ पियो मारे वे वीबा दे जाँय सिपाहियाँ दे हथ्थ
गिर दी झञ्जरी भज्ज पये गोरिए इंजू रह जाय हथ्थ
घर जाँदियाँ नूँ माँ मारे गोरिए पै जाँय साडे वस्स

अर्थात् हे कूँए पर पानी भरने वाली, एक घूँट पानी मुझे भी पिला ... अपना भरा हुआ पानी मैं नहीं दूँगी। लेजुर पड़ी है। स्वयं पानी भरो और पी लो ... तेरी लेजुर को घुँघरू लगे हैं। मेरे हाथ लगाने से ये घुँघरू गिर जाँयगे ... भगवान् करे तेरे नीचे का घोड़ा मर जाय, और इसकी काठी तेरे हाथ मे रह जाय ... भगवान करे घर पहुँचने पर तेरा पिता तुझे मारे और तू सिपाहियों के काबू आजाय ... तेरे सिर की मटकी टूट जाय, हे गोरी, और इंडरी तेरे हाथ मे रह जाय। घर पहुँचने पर तुझे तेरी माँ मारे और तू मेरे काबू आ जाय ....."

इस गीत के अगले भाग का अनुवाद इस प्रकार है—

घर आने पर माँ पूछती—साँझ होगई, तू कहाँ से आई है।
माँ, एक लम्बे कद का युवक था, वह मुझ से विवाद करने लगा।
तेरे पिता का जामाता, हे पुत्री, और तेरे सिर का सरदार।
सहेलियो से मिलकर पूछती है, रूठे प्रियतम को कैसे मनाऊँ।
हाथ मे दूध का कटोरा लो और सोये हुए प्रियतम को जगाओ।
तुम सोये हो या जागते हो या बाजार चले गये हो।
न मैं सोता हूँ न जागता, न बाजार गया हूँ, तुम कुयें के बोल सुनाओ।
छोटी आयु मे भूल हो गई, प्रियतम, अब तो मन से भुला दो।
शाबाश तेरी बुद्धि को, हे गोरी, धन्य है तुझे जन्म देने वाली माँ।
तेरे लिए मै मनौतियाँ माँगती हूँ, प्रियतम, मेरे लिए तेरी माता।

ब्रज के गीत और पञ्जाबी गीत की तुलना करने से पहले यह अच्छा होगा कि गढ़वाली और कुमायूँनी गीतो के पूरे अनुवाद हमारे सम्मुख आ जाँय—

रास्ते के खेत से निराई करने वाली, तेरा ग्राम कहाँ है।
बोल, बहू रानी, तेरा क्या नाम है।
अब दोपहर का घाम हो गया।
तू अकेली नारी खेत में रह गई।

तेरे देवर और जेठ कहाँ हैं ?
उनकी पत्नियाँ कहाँ चली गईं ?
आज तेरा स्वामी कहाँ है ?
सास ससुर क्या काम कर रहे हैं ?
बोलो तुम किस अनाज की निराई कर रही हो ?
बहू रानी, अपनी जुबान खोलो।
बटोही जोगी, तुम यह मुझ से क्यों पूछते हो
तुम किसको पूछते हो, तुम्हें क्या चाहिए
मैं रात की बेटी हूँ, मेरा नाम है रामी।
सेठों की बहू हूँ, मेरा गाम है पाली।
मेरे जेठ कचहरी गये हैं
देवर भैंसें चरा रहे हैं
देवरानी मायके गई है
जेठानी को आज ज्वर आ गया
मेरी सास घर पर रह गई
अब स्वामी की याद आने लगी
आँखों से पानी बह निकला
मेरा स्वामी मुझे घर पर छोड़ गया
मुझ पर वह निर्दयी हो गया,
धन के लिए घर में कहाँ स्थान
जिन के लिए स्वामी का निच्छेद हो गया
जाओ, जोगी, अपना रास्ता लो
मेरे शरीर में आग न लगाओ
वह रोने बैठ गई, स्वामी याद आने लगे
हाथ की कुटली* छूट गई
सावन के मेघ की तरह हृदय भर आया
हे स्वामी, मेरा तो गला, रुधा जा रहा है
चलो, बहू रानी, छाया में बैठ जाँय
अपना दुःख मुझे सुना
अब दोपहर का घाम हो गया

* निराई करने का औजार।

समस्त खेत में छाया ढल कर चली गई
नारी, तू क्यों इस प्रकार रोती है
क्यों व्यर्थ अपना यौवन खोती है
एक बोल तो बोल दिया, दूसरा न बोलना
पापी जोगी, जुबान न खोल
तेरे साथ तेरी बहिनें बैठेंगी
पतिव्रता नारी तुझे चेतावनी देती है
अखंड विधवा की भांति तू दुःख सहे
ओ जोगी, मै तुझे शाप दे रही हूँ
राजा की बहू रानी, गाली न दे
मैंने तेरा क्या खाया है कि मुझे शाप दे रही है
रामी, मुझे गांव का रास्ता बतायो
मन के क्रोध को थाम लो
मुझे बहुत भूख लगी है
सयाना रावत कहाँ रहता है
रमता जोगी रास्ते पर चला गया
रामी के मन मै क्रोध आ गया
हे स्वामी, पिछली रात तुम स्वप्न मे आये
तुम मेरी अवस्था देख कर चले गये
आज के दिन मेरे पास
खास मेरे डेरे पर आने को कहा था
क्या मेरा स्वप्न झूठा हो गया
क्या मेरा स्वामी परदेस मे ही रह गया
मुझे तो कहा था कि मै घर आऊंगा
मेरे स्वामी ने कहा था—मै दौड़ कर आऊंगा
गांव मे जाकर जोगी ने अलख जगाई
माई, मुझे भिक्षा दो
माई, मै कल रात से भूखा हूँ
मेरे लिए सूखा सीधा (बिना पका हुआ अन्न) न लाना
मुझे भात और साग देना
नहीं तो तुम्हें पाप लगेगा

बुढ़िया माई को दया आ गई
रामी बहू को बुलाने लगी
बहू, झटपट आओ
डेरा पर एक साधू भूखा है
हे मेरे मन, आज तू क्या क्या बोल रहा है
यह जोगी आज क्या क्या बोल रहा है
हे सास, मैं इस की रोटी नहीं पकाऊँगी
इसने मुझे खोटी खोटी गाली दी है
हे निर्लज्ज जोगी, तुझे सरम नहीं
तू हमारे बीच कैसे आ गया
माई, अपनी बहू को समझाओ
तुम जा कर मेरे लिए भोजन बनाओ
जा, मेरी बहू, भात पकाओ
साधू को देख कर हाथ जोड़ो
साधुओं का तो शिव का भेस है
जिनका मन विरक्त हो चुका है
रामी रसीले खाने पकाने लगी
उसे अपने स्वामी की याद आने लगी
गौरा माइ तुम कृपा करो
नल दमयन्ती की तरह मुझे पति मिले
मुझ पर अपनी कृपा करो
माता, मेरे मन का दुःख हरो।
साधु पास में बैठा रह गया
रानी की सास को दया आ गई
अब साधु के समीप थाली आ गई
चलो, साधु, भोजन तैयार हो गया।
साधु के पत्ते पर भात रखा है
तुम्हारे भात को मैं हाथ नहीं लगाऊँगा
रानी के स्वामी की थाली परस लो
भात और रोटी मैं आप ही में खाऊँगा।
स्वामी की थाली में से किसी को भोजन नहीं दे सकती
उसमें भात और रोटी क्यों दूँ

तुम्हें खाना है तो खालो
जोगी, तुम नहीं खाते तो अपना रास्ता लो
बहुत से जोगी झोली लेकर
दिनभर फिरते रहते हैं और कोई उन्हें भिक्षा नहीं देता
पतिव्रता नारी का मन तेजस्वी होता है
डगमग डगमग, जोगी का शरीर काँपता है
जोगी माता के चरणों पर गिर गया
रामी यह खूब देखती रह गई
हे माता, मैं तेरा पुत्र हूँ
अन्य राज्य से घर आया हूँ
मैं पलटन में भरती हो गया
चीन जापान तक जा पहुँचा
मैंने नौ वर्ष नौकरी की
मेरी नौ रुपये पेनसन हो गई
पुत्र से माता भेंट करने लगी
रामी का मन दुबधा मे पड़ गया
अनुराग का सागर उमड़ गया
वह जोगी के शरीर की भसम धोने लगी
पतिव्रता नारी चकित रह गई
वह स्वामी के चरणों पर झुक गई
रामी को वर्षों से दर्शन अभिलाषा लगी थी
आँखों का रुदन वह थाम नहीं सकती
मेरे स्वामी, तुम निर्मोही बने रहे
घर छोड़ परदेश चले गए।

रूपा का गीत

'रास्ते के निकट के खेत में, हे रूपा, तू क्यों अकेले धान निराती है
हे पथिक, मैं तो अकेली हूँ, अपने साथ किस को लाऊँ
रूपा, तेरी देवरानी और जेठानी कहाँ गई
तेरे देवर और जेठ कहाँ गये
रूपा, तेरी और पौणी (पति की बड़ी बहन) कहाँ गई
रूपा, तेरे सास ससुर कहाँ गए

हे पथिक, मेरी जेठानी चूल्हे की रसिक है
हे पथिक, मेरी देवरानी पशुशाला की घमियारी है
हे पथिक, मेरा जेठ सभा में बैठा है
हे पथिक, मेरा देवर भैंसों का ग्वाला है
हे पथिक, मेरी ननद और पाँणी ससुराल गई हैं
मेरे सास ससुर वृद्ध हो गए हैं
हे रूपा, रास्ते के निकट कोसेत में दोपहर की घाम में कौन से धान निराती है
हे पथिक, मैं साल और जमोल (धानों की जातियाँ) निराती हूँ
हे रूपा, तेरा प्रियतम कहाँ चला गया
हे पथिक, छोटी आयु में वह मुझ से ब्याह करके चला गया
हे पथिक, उस दिन से वह पलट कर नहीं आया
उसके लगाये सिलिंग का वृक्ष फूलों से लद गया
हे पथिक, मेरे भर जोबन के दिन हैं
उसने उस दिन से मुझे पलट कर नहीं देखा
हे रूपा, मैं ही तेरा प्रियतम हूँ
हे पथिक, तू अपनी माँ और बहिन का प्रियतम होगा
एक बोल तो बोल दिया अब दूसरा न बोलना
दूसरा बोल बोलेगा तो मैं तुझे बहिन की गाली दूँगी
चल, चल, हे रूपा, सिलिंग की छाया में, आ रौंतेली रूपा
सिलिंग की छाया, पीपल की हवा
मेरे प्रियतम के पैरों में नली वाला जूता था
उसकी जंघा में दुटी (एक प्रकार का वस्त्र) का पाजामा था
उस के बदन पर गंगाजल के रंगवाला वस्त्र था और सिर पर ब्यतंरे (एक प्रकार के वस्त्र की पगड़ी)
हे पथिक, उस की कमर में रेशमी फेंटा था और हाथ में लोहे के मुटके वाली
हे रूपा, नली वाला फट गया
दुटी वस्त्र का पजामा भी फट गया
हे रूपा यदि मैं तेरा प्रियतम होऊँगा तो तुझे पालकी में ले आऊँगा
यदि कोई लबार हुआ तो तेरे हल जोतूँगा।'

चारों गीतों की तुलना करने से पहले फिर से ब्रज के गीत की मोटी-मोटी बातों का अवलोकन उचित होगा। गीत का आरम्भ यों होता है कि वट वृक्ष की शाखा पर झूला पड़ा है। झूले पर झूलती हुई एक कोई युवती कह उठती है—ऐ बटोही ढोला, मैं सात सहेलियों के बीच झूला झूल रही हूँ। बटोही कहता है—सहेलियों के मुख तो उवरे हैं। तुम्हारा मैला भेस क्यों है? मेरे साथ चलो तो ले चलूँ। ओ बड़े-बड़े नयनों वाली, मेरे साथ चलो ना। मैं तुझे स्वर्ण से पीली कर दूँगा, और चाँदी से श्वेत। वह कहती है—तेरे पीले रङ्ग को आग, लगाऊँ और तेरा श्वेत रङ्ग भी जल जाय। तेरे पिता की दाढ़ी झारूँ ओ बटोही, तेरी मूँछों पर अँगार रक्खूँ। मैं जिस पिया की गोरी हूँ, उसके यहाँ तो तेरे जैसे लोग पानी भरते हैं। घर पहुँच कर वह अपनी सास से कहती है—सासुल रानी, एक बटोही मिला था, जो कहता था कि मेरे साथ चली चलो। सास पूछती है—उसके वस्त्र कैसे थे और उसकी उनहार कैसी थी? वह कहती है—उसके श्वेत वस्त्र थे। छोटे देवर जैसी उनहार। कह उठती है—वही तो तुम्हारा प्रियतम था। तू उसके साथ क्यों नहीं गई? वह निराश होकर उत्तर देती है—भागूँ तो भाग नहीं सकती, पुकारते हुए मुझे लाज आती है।

गढवाली गीत की शैली वर्णनात्मक अधिक है। कथा-वस्तु के सम्बन्ध में कुछ लोगों का कथन है कि यह एक सच्ची घटना से ली गई है। कहते हैं गत महायुद्ध सन् १६१४ से लौट कर एक सिपाही ने सचमुच इसी प्रकार अपनी पत्नी के सत की परीक्षा की थी। यह भी हो सकता है कि यह गीत गत महायुद्ध से कहीं अधिक पुरातन हो और पुराने गीत में कुछ परिवृद्धि करके इसे अर्वाचीन रूप देने की चेष्टा की गई हो। इस गीत की तुलना उस किले से की जा सकती है जिसका निर्माण किसी पुरातन किले के भग्नावशेष पर हुआ हो। नारी के सत की परीक्षा का कथन गत महायुद्ध से कहीं अधिक पुराना है। गीत की गति तीव्र नहीं। यह बैलगाड़ी की गति से धीरे-धीरे पहाड़ी चित्रपट पर उभरती है। कुमायूँनी गीत भी आरम्भ में गढ़वाली गीत की ध्वनि लिए हुए नज़र आता है। यद्यपि इसका कथानक खेत ही में शेष हो जाता है। इसका अन्त अत्यन्त आकस्मिक है। जब रूपा का पति कह कर उठता है कि यदि मैं तेरा प्रियतम होऊंगा तो तुझे पालकी में बिठाकर ले जाऊंगा, और यदि कोई लबार

होऊंगा, तो तेरे 'यहाँ हल जोतूंगा, तो हम सोचते रह जाते हैं कि कि आगे क्या हुआ होगा। पंजाबी गीत की शैली दूसरी है और यह काफी हद तक ब्रज के गीत से अधिक पूर्ण है। इन दोनों के गीतों की शैली चित्रकला की उस शैली के समीप है जिसमें कलाकार तूलिका के गिने चुने शीघ्रगामी स्पर्शों से चित्र उपस्थित कर देता है।

चारों गीतों की तुलना में यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि पुरातन काल में विभिन्न जनपदों की लोक-कला में अनेक आदान प्रदान होते आये हैं। एक जनपद की कन्या दूसरे जनपद में ब्याही जाती थी, या जब एक जनपद से सगे-सम्बन्धी पास पड़ोस के जनपद में पहुँचते होंगे तो वे अवश्य लोक-कला की कोई न कोई वस्तु अपने साथ लेकर जाते होंगे। इनमें से कुछ न कुछ वहाँ छोड़ आते होंगे और कुछ न कुछ वस्तु वहाँ की लोक कला से अपने साथ अवश्य लेकर आते होंगे। तीर्थ-यात्राओं के द्वारा भी विभिन्न जनपदों की जनता में अवश्य लोक-कला के आदान प्रदान का क्रम चलता रहता होगा।

जैसा कि आरनहड वाके ने एक स्थान पर स्पष्ट किया है यूरोप के देशों में भी यह देखा गया है कि एक जनपद की लोक-कला किसी न किसी रूप में पास पड़ोस के जनपदों को पार करती हुई सुदूर जनपदों तक जा पहुँची है। उन्होंने इस कलात्मक आदान प्रदान के कई प्रकार उपस्थित किए हैं। कई बार केवल किसी विशेष गीत के स्वर ही दूसरे जनपद में जा पहुँचे और वहाँ इन स्वरों ने लोक कवि की सहायता से शब्दों का नया चोला बदला। कई बार स्वर और शब्द दोनों ही दूसरे जनपद की बपौती में सम्मलित हो गए। यद्यपि कभी-कभी स्वर और शब्द दोनों या किसी एक दृष्टि से इसमें कुछ परिवर्तन भी हुए। कई बार केवल शब्दों ने ही यात्रा की, और दूसरी भाषा में इनका अनुवाद हो गया, और गीत को एक दम नये स्वर प्राप्त हुए। इस प्रकार यह आदान प्रदान की क्रिया विभिन्न जनपदों की लोक-प्रतिभा की भरपूर समृद्धि का कारण बनी। लोकगीत को इस आदान-प्रदान पर सदैव गर्व रहेगा। हमारे देश के विभिन्न जनपदों के लोकगीत के सम्बन्ध में भी यह बात बहुत हद तक सत्य है।

ब्रज के गीतों में सावन के गीत बहुत लोक प्रिय हैं, और सावन के गीतों में 'मोरा' गीत की स्वरलहरी हमारा मन मोह लेती है:

भर भादों की मोरा रैन अँधेर राजा की रानी पानी नीकरी जी
काहे की गगरी रे मोरा काहे की लेज, काहे जड़ाऊ धन ईंडरी जी
सोने की गगरी रे मोरा रेसम लेज, रतन जड़ाऊ धन की ईंडरी जी
आगें आगें मोरा चाले पीछे पनिहारि, जी पीछे राजा जी के पहरुआ जी
एक वन नाँघो, दूज वनो नाँघि, तीजे वन पहुँची है जाइकें जी
जोई भरै मोरा देइ लुढ़काइ, पंख पसारि मोरा जल पीवै जी
परें रे सरकि जा मोरा भरन दै नीर, मो घर सास रिसाइगी जी
त्यारी तो सासुल धनियाँ हमरी है माय, आज बसेरो हरिअल बाग में जी
परें रे सरक जा मोरा भरन दै नीर, मो घर ननद रिसाइगी जी
त्यारी तो ननदुल धनियाँ हमरी है भैन, आज बसेरो हरिअल बाग मे जी
उठि उठि सासुल मेरी गगरी उतारि, ना तो फोडूँ चाँरे चौक मे जी
किन तौ ए बहुअल बोले है बोल, कौनैं दीने तोइ तांइने जी
ना काऊ सासुल मोसे बोलें हैं बोल, ना काऊ दीने है तांइने जी
बनकौ मोरा सासुल बनही मैं रहत है, बाकी कौहोक मेरे मन बसीजी
उठि उठि बेटा मेरे मोर पछार, तेरी धन रीझी बन के मोरला जी
मोइ देउ अम्मा मेरी पांचौ हथियार, मोई देउ पांचौ कापड़े जी
एक वन नांघो राजा दूजो वन नांघि, तीजे वन मोरा पछारिए जी
मारि-मूरि राजा लाए लटकाइ, लाइ धरौ है धन की देहरी जी
उठि उठि धनियाँ मेरी हरदी जो पीस, मोरा छोंकि बनाइए जी
हरदी के पीसे राजा जलदी न होइ, मोरा के छोंकै मेरो जी जरै जी
बन कौ तौ मोरा राजा बन ही मे रहत है, वाकी कौहोक मेरे मन बसी जी
जो तुम्हें धनियाँ मेरी मोरा की साध, सोने कौ मोर गढ़ाइए जी
सोने कौ मोरा राजा चोरी मे जाइ, वाकी कौहोक, मेरे मन बसी जी
जो तुम्हे धानियाँ मेरी मोरा की साध, काठ कौ मोरा बनाइए जी,
काठ कौ मोरा रे राजा जरि-बरि जाइ, बाकी कौहोक मेरे मन बसी जी,
जो तुम्हें धनियाँ मेरी मोरा की साध, छाती पै मोर गुदाइए जी,
छाती कौ मोरा रे राजा बोलै न बोल, बाकी कौहोक मेरे मन बसी जी।

ठीक यही प्रसंग एक गुजराती लोकगीत मे भी प्रस्तुत किया गया है जो श्री जवेरचन्द मेघानी के गीत-संग्रह 'रढियाली रत' मे मौजूद है। एक-दो राजस्थानी और पंजाबी गीतों मे भी इस प्रसङ्ग

की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। यहाँ मयूर उसी प्रकार एक आदर्श-प्रेमी का प्रतीक है जैसी यूनानी लोकवार्ता में हंस को उपस्थित किया गया है। साधारण गृहस्थी मे राजा और रानी की कल्पना इस बात की दलील है कि ब्रज का यह गीत मध्यकालीन रचना है जबकि राजा रानी साधारण जनता की आन्तरिक आकांक्षा के क्षितिज पर सदैव उभरते चले जाते थे।

ब्रज के जन मानस तथा 'मोरा' जैसे उच्चकोटि के गीत के सम्बन्ध में श्री सत्येन्द्र लिखते हैं

जन-मानस और मुनि-मानस का संघर्ष आज का नहीं है। मुनि ने सदा यह दावा किया है कि उसकी रचना मे शाश्वत प्रकट होता है, और उसने जहाँ तक हो सका है जन और उसकी कृति की अवहेलना की है, उसे हेय बतलाया है। उसने अपनी सृष्टि में ब्रह्मा की सृष्टि से भी विशेषतायें पाईं और दिखाईं। उसे अपनी रचना में जीवन-सन्देश मिला, श्रेय और प्रेय, सत्य, शिव और सुन्दर, दिव्य अनुभूति, अलौकिक अभिव्यञ्जना मिली है। इस वर्ग के गर्व ने विश्व की जितनी क्षति की है, क्या इस पर कभी विचार किया गया है। निश्चय ही इसने शास्त्रों के सूक्ष्म विधान कर अपनी प्रशंसा अपने आप करने का कुशल ढंग स्थापित किया, किन्तु यह सदा परास्त होता रहा है। जन-मानस ने कभी कोई दावा नहीं किया। उसकी सुश्री ही ऐसी अभिनव रही है कि मुनि के कला-कौशल का गर्व स्वत चूर्ण हो गया है।

शताब्दियों पूर्व वेदो की रचना हुई। उन्हें जिस वर्ग ने निर्माण किया, उसी वर्ग के अन्य व्यक्तियों ने उसे अलौकिक और अपौरुषेय बतलाया। ऐसा उनका अपना आतङ्क और प्रभाव जमाने के लिये किया जाता रहा। यह अधिक काल तक न रह सका। लौकिक काव्य की भी उद्भावना हुई और आदि कवि वाल्मीकि ने रामायण रच डाली, यह उनकी रचना मुन-मानस का प्रतिफल न था, नहीं तो उसे लौकिक न कहा जाता। किन्तु मुनि-मानस एक और धाँधली करता रहा है। जन-मानस की सृष्टियों को वह अपनी बनाता रहा है। वाल्मीकि और उनके वर्ग की रचनायें फिर मुनि-मानस की वस्तुयें हो गईं। जन का जो सुन्दर था उसे अपना लिया गया। वह परिमार्जन और संस्कार करना जानता है। लोक-मानस से सामग्री, लेकर उन पर केवल कलाई

मुनि-मानस कर देता है। मुनि को विद्वान कहा जा सकता है, तत्वदर्शी कहा जा सकता है, किन्तु उसके पास जो कला है वह अपनी नहीं। कला के लिये उर्वर भूमि की आवश्यकता है। स्वतन्त्रता और उन्मुक्ति ही उर्वरता है ......

"जन-मानस निर्विकार होता है। उसके पास न कोई आदर्श है, न शास्त्र और नियम, उसकी स्फूर्ति में व्यक्ति और व्यक्तित्व का कोई अर्थ नहीं। वह भी विचार करता है। उसकी धृति ज्ञान और विज्ञान की धृति नहीं। शुद्ध प्रकृति की धृति है........

ब्रज क्षेत्र में श्रावण में जो गीत गाये जाते हैं उन में पनिहारिन, नटवा, चन्दना, विजैरानी, मोरा सभी प्रबन्ध गीत हैं, और उन सब में ऐसे भावुक वर्णन हैं कि प्रशंसा करनी पड़ती है। इन गीतों को अश्लील समझा जाता है और एक मात्र स्त्रियों में इनका प्रचार रहा है, मोरा नाम के गीत को देखिये........

इस सीधी सी गीत-कहानी में जन-मानस ने जो जीवन की अन्तर्व्यापिनी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति की है, वह कितनी अनुपम है, कितनी सहज और कामोद्दीप्ति से शून्य, एक सहज संवेदना के फल सी। और क्या इसमें सूक्ष्म मनोविश्लेषण नहीं मिलता। रानी के हृदय में मोर की कुहुक का बस जाना, और उसकी प्रतिस्पर्द्धा का परिमार्जन मोर को मार कर किया जाना, और फिर भी असिट कुहुक का ज्यों का त्यों बने रहना जैसे कोई दार्शनिक सूत्र हो, जिसकी व्याख्या में नश्वर यह काया या उसकी अमर अभिव्यक्ति का चिरन्तन सत्य उपस्थित किया जा रहा हो—और मोरा ने मोर के रूप में ही रह कर तो इस कहानी को, रूपक की भाँति अनेक अर्थों से पूर्ण कर दिया है। शब्द-सौष्ठव इस गीत में नहीं, पर आकर्षण कितना अधिक है, और विचारशील विवेचक के मस्तिष्क के लिए तो इसमें कितनी सामग्री है . . *"

'मोरा' से प्रियतम के प्रतीक की कल्पना का सूत्र उस युग का स्मरण कराता है जब मानव की दृष्टि में प्रकृति की विशाल और स्निग्ध गोद का स्पर्श सब से अधिक महत्व रखता था। अनगिनत शताब्दियों को लाँघता हुआ मानव

* श्री सत्येन्द्र एम०ए०, 'लोक मानस के कमल'-जयाजी प्रताप, ३ फरवरी, १९३८।

मशीनी युग की दहलीज पर खड़ा नजर आता है। मशीनी युग की मशीनी संस्कृति में उलझी हुई मानव चेतना छटपटाती है, और अपने अतीत का ध्यान करते हुए मानव की आँखों मे अनेक परिवर्तन फिर जाते हैं जिनके साथ उसके इतिहास की कड़ियां जुड़ी हुई हैं। ईर्षा ज्यों की त्यों क़ायम है आज भी नारी को किसी मानव 'मयूर' की ओर आकर्षित देख कर पुरुष के हृदय में ईर्षा और प्रतिस्पर्द्धा की ज्वाला भड़क उठती है।

चन्द्रावली के गीत का प्रधान स्वर भी पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पर्श करता है। मध्यकालीन युग से चली आने वाली सम्मिलित कुटुम्ब की पद्धति को इस जैसे अनेक गीतों की पृष्ठभूमि में रंग भरने का श्रेय प्राप्त है। श्रावण—भादों में झूला झूलती हुई कन्याओं के सम्मुख अनायास ही चन्द्रावली का चित्र उभरने लगता है। झूला हवा की लहरों पर तैरता है और झूले की सहेलियाँ अतीत की स्मृति में खो जाती हैं। जब नारी के सम्मुख आज के टिके हुए जीवन से कहीं अधिक कठिन समस्या उपस्थित रहती थी। यह स्पष्ट है कि चन्द्रावली उन नारियों की प्रतीक समझी जाती है, जिन्होंने शत्रु के पंजे में फँस कर भी अपने सत को आँच नहीं आने दी। कदाचित यह गीत मुगल युग के आरम्भ की ओर संकेत करता है। कथानक इतना ही है कि श्रावण के दिनों में चन्द्रावली एक चिड़िया से कहती है कि वह उसके मायके मे उसका सन्देश ले जाय। उसका भाई उसे मायके लिवा ले जाने के लिए आता है, और मायके के रास्ते में चन्द्रावली के डोले को एक मुगल सिपाही रोक लेता है। चन्द्रावली एक चिड़िया से विनय करती है कि वह उसका सन्देश उसके ससुराल तक ले जाय। ससुराल से ससुर, जेठ और चन्द्रावली का पति तीनों घोड़ों पर चढ़ कर उसकी सहायता को आते हैं। परन्तु उससे कहीं अधिक चन्द्रावली को स्वय ही अपनी सहायता करनी पड़ती है

सरग[1] उड़ंती चिरहुली[2]
लागो सामन मास
हमरे बाबल सों नों कहौ
अपनी बेटी ऐ लेइ बुलवाइ

१ स्वर्ग, २ चिड़िया,

लागों मासन मांस ।
ले डुलिया बीरन चले
लागों सामन मांस
जाइ पहुँचे जीजा दरबार
भेजो जीजा जी बहँन को जी
भैया कूँ राँधूंगी सेमई जी
ऊपर बूरों खाँड
सैयों कूँ कोंधई़* जी
ऊपर रोटी साग
ले जाओ मागे अपनी बहँन जी
ले बहँना बीरन चले
लागों मासन मांस ।
सरग उडंती चिरहुली
जइयौ ससुर दरबार
डोला तौ घेरयौ पठान ने
लागों मासन मांस ।
सरग उडंती चिरहुली
जइयौ ससुर दरबार
हमरे ससुर जी से न्यौं कहौ
डोला लिया है घेर
लागों सामन मांस ।
ले हाथी ससुर चले
हथिनी ओर न छोर
ले रे मुगल अपनी भेंट लै
लागों है सामन मांस ।
बहुअल तौ छोड़ौ चन्द्रावली जी ।
हाथी तो मेरे बहुत है
हथिनी ओर न छोर
ना छोडूँ चन्द्रावली
जाइगी जी के साथ
जाओ सुसर घर आपने

---

*कोंदों

रक्खू पगड़ी की लाज
सरग उड़ंती चिरकुलो
जइयो जेठ दरबार
हमरे जेठ जी से यों कहो,
डोला लिया है घेर
लागा है सावन मास।
ले घोड़ा जेठा चले
घोड़ो और न छोर
ले रे मुगल! अपनी भेंट ले
लागो है सावन मास
बहुअल तो छोड़ो चन्द्रावली।
घोड़ा तो मेरे बहुत हैं
घोड़ी और न छोर
ना तो रे छोड़ूँ चन्द्रावली—
जाइयो जी के साथ।
जाओ जेठ जी घर आपने
राखूँ घूँघट की लाज।
सरग उड़ती चिरकुली,
जइयो पिया दरबार।
हमरे साहिबा से यों कहो
डोला लियो है घेर
ले मोहरें राजा चले
थैली और न छोर
ले रे मुगल अपनी भेंट ले
लागो सावन मास,
गोरी तो छाड़ दे चन्द्रावली।
रुपिया तो मेरे बहुत हैं
थैला और न छोर
ना तो रे छोड़ूँ चन्द्रावली
जाइयो जी के साथ।
जाओ राजा जी घर आपने
राखूँ केहर की लाज।

पानी न पीऊँगी पठान कौ
सेजौं धरूंगी न पांव।
इतनी सुनि राजा चलि दिए
लागौ सामन मांस;
जा रे मुगल के छोहरा[२]
लागो सामन मांस,
प्यासी मरे चन्द्रावली
जैसी राजदुलारी
प्यासौ मरे चन्द्रावली
जिस के माइ ना बाप
लै लोटा मुगल चलो
तँबुआ दे लई आग
हाड़ जरै जैसे लाकड़ी
केस जरैं जैसे घास
हाइ हाइ मुगला करै
ठाडैं खाइ पछार
घेरी ही बरती नहीं
लागौ सामन माँस
देखी ही चाखी नहीं
ऐसो राजदुलारो
इतनी सुनि सुसरा रो दिए
मेरी राज दुलारी
बहू भलो चन्द्रावली
राखी पगड़ी की लाज
इतनी सुनि जेठा जी रो दिए
मेरी राजदुलारी
बहू भली चन्द्रावली
राखी घूँघट की लाज
इतनी सुनि राजा रो दिए
राखी फेरन की लाज
रानी भलो चन्द्रावली

खानौं न खायौ पठान कौ
सेजों पै रक्खो न पाँव
लागौ सामन मास।

यह गीत किसी न किसी रूप में युक्तप्रान्त के विभिन्न जनपदों में बार बार प्रतिध्वनित हो उठता है। बुन्देलखण्ड मे 'भानो गूजरी' का गीत इसी शृङ्खला की एक कड़ी है। बिहार में 'भगवती का गीत' भी भारतीय नारी की गौरव गाथा को इसी रङ्ग में पेश करता है। पंजाब में सुन्दर पनिहारिन का गीत भी इसी एक बात पर केन्द्रित है कि एक मुगल सिपाही के चंगुल में फँसी हुई भारतीय नारी किस तरह अपनी जान पर खेल जाती है। चन्द्रावली और सुन्दर पनिहारिन सगी बहिनें प्रतीत होती हैं। ये सभी गीत प्रान्तीय सीमाओं को लाँघ कर एकता के आदर्श पर टिकने के कारण ही लोकपरम्परा में अपना स्थान बनाये हुए हैं।

ब्रज के स्त्री-गीतों में मुगल की चर्चा लोक-गीत के ऐतिहासिक विकास की ओर संकेत करती है। एक गीत में कोई ग्रामीण कुल वधू किसी मुगल सिपाही को यों फटकार सुनाती है —

नदिया के वल्ली पल्ली पार उड़न लागे दो कागला
नदिया के वल्ली पल्ली पार दूखें तो मेरी दो अँखियाँ
कै तेरो पीहर दूर कै तेरो घर में सास लड़ी
उड़ जा रे मुगल गँवार तुम्हे मेरी का परी
न मेरे पीहर दूर न मेरे घर में सास लड़ी।

नदी के इस पार और उस पार दोनों आँखों का एक प्रकार से दुखने लगना बहुत बड़े दुःख और अपमान का प्रतीक है। परन्तु इस विवाद पूर्ण पृष्ठभूमि को दोनों भुजाओं से परे धकेलती हुई नारी अपने सत की रक्षा किए जा रही है, यह देखकर किस देशवासी का सिर गर्व से ऊँचा नहीं उठ जायगा।

आज भी भाई सावन में अपनी बहिन को ससुराल से लिया ले चलने के लिए पहुँचता है। सावन के गीत प्रायः झूले की हिलोर पर पनपते हैं, और कहीं कहीं बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से जीवन की

१—यह गीत विशालभारत में मेरे एक लेख में मौजूद है।
२—यह गीत श्री रामनरेश त्रिपाठी के संग्रह में देखिए।

रूप रेखा में रंग भरते हैं। एक गीत में बहिन भाई के प्रश्नोत्तर यों आरम्भ होते हैं:

सामन भादों जोर कै भइया मैंने ले जाय
सामन जिन जाय रे
हूँ कैसे आऊँ मेरी बेंदुली तेरो नाग ने घेरो है घाट
सासन जिन जाय रे
नागन दूध पियाय भइया मैंने ले जाय
सामन जिन जाय रे ....

बहिन के लिए बेंदुली शब्द का प्रयोग सावन के गीतों की विशेषता है। सों सों बहाने बनाने वाले भाइयों को ब्रज की कुल-बधुयें चिरकाल से निमन्त्रण देती आ रही हैं। 'सामन जिन जाय रे' की टेक शीघ्रगामी सावन को पकड़ कर रखना चाहती है। प्रत्येक कुलवधू यही चाहती है उसका भइया अवश्य आये और सावन बीतने से पहले ही उसे मायके से लिवा ले जाय। बालिकायें अलग झूले पर तान छेड़ देती हैं:—

झुकि जा रे बदरा बरस चों ना जाय ....

बादल को सम्बोधित करने के इस अन्दाज से गहरी जान-पहचान और बराबरी की भावना प्रगट होती है। यह 'बदरा' तो कोई मेघ-बालक ही होगा जिसे ब्रज के बालक किसी भी समय खेलने के लिए बुला सकते हैं।

सावन का एक गीत यों आरम्भ होता है:—

जन्म जनन्ती री माय,
तै ने चों न जन्मी री बागन बिच की कोयली
रहती बागन ई के बीच,
काऊ अलबेले मजलसिये कुहक सुनावती ....

यह कोयल बन कर बाग में रहने की भावना रसखान की याद दिलाती है। कन्हैया के लिए 'मजलसिया' का प्रयोग इस गीत की मध्यकालीन परम्परा का प्रमाण है।

रो रो कर जौ पीसने वाली बहिन का चित्र यों अंकित किया गया है—

आले से जौ कौ री माँ मेरी पीसनौ
कोई रोय रोय पीसे चून

जनीते कहियो री
मेरो विरन मोय ले जाय
जनी ते कहियो री

एक गीत में बाप बेटी की बातचीत सुनिए—

मेरे बाबल रे सोने के मोय कलसा लै दे
मेरे बाबल रे नित नित कलसिया फूटती
मेरे बाबल रे नित नित सासुल कोसती
मेरी लाडो री कैसे कैसे कोसती
अरमल परमल बाप चटरमल
मा पटरानी भावज रानी वीर कन्हैया कोसती
मेरे बाबल रे वीर कन्हैया कोसती

'चन्दना', 'मरमन', 'रसमोल', 'सिपाहिरा' और 'बनजारा' इत्यादि गीत अपने अपने रङ्ग के उत्तम उदाहरण हैं परन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ उनकी विस्तृत चर्चा सम्भव नहीं।

हास्य रस भी ब्रज के लोक-जीवन में बार बार छलक उठता है। झूले के एक गीत में बाजरा की प्रशंसा सुनिये—

आध पाव बाजरा कूटने बैठी
उछल उछल घर भरियो, शैतान बाजरा
कानों देवर मरियो, शैतान बाजरा
आध पाव बाजरा पकावन बैठी
खदक खदक हँडिया भरियो, शैतान बाजरा
कानों देवर मरियो, शैतान बाजरा

होली और फाग के गीतों का प्रसार ब्रज में सब से अधिक हुआ है। इनका ताल निराला निराला है और इनकी एक विशेषता यह कि होली के परम्परागत प्रसङ्ग से हट कर ये जीवन के किसी भी चित्र को प्रदर्शित करने की सामर्थ रखते हैं

खोटो है काम किसान को नागन को
सुख नाँनें रे
मिलो धूर माटी में
नहीं मिलैं वख्त सिर रोटी
जा की बुरी कमाई खोटी

लोकेक-कवि पतोला रचित एक होली गीत सुनिये—

फागुन में परथौ तुसार
चैत में उखटा
कां ते रँगाय देउँ दुपटा......... ...

होली की वास्तविक विशेषता शृङ्गार में उभरती है—

कोठे पै ठाड़ी नार
झूमका सोने को
जा ए लगौ चाव गौने को............

पतोला को यही तीन कड़ी की होली अधिक प्रिय थी। यद्यपि उसके समकालीन और उसके परवर्त्ती लोककवियों ने सदैव होली की परिधि को अधिक से अधिक विस्तृत करते हुए काफी बड़ी बड़ी होलियाँ रचने का यत्न किया है। एक होली में पतोला ने अपनी आत्मकथा पेश की है—

अन्न टका भर खाय
सूख गयो चोला
मेरौ पड़ि गयौ नाम पतोला ....

उदाहरण स्वरूप एक बड़ी होली भी सुनिए, जिसमे ऋण के भार से दबा हुआ किसान किसी बौहरे या साहूकार को सम्बोधित करते हुए उसे खरी खरी सुना रहा है।

गेंहुन में रतुआ लगौ
चनन मे लागी सुंडी
हरैर मे कीरा लगौ
सब भांति फूटी मुंडी
परि गए पथरा
लरका बारे परे उघारे
तोय परी अपनी अपनी
पैसा नांय पास बौहरे
बेसक करि आ दावा
मत देइ दुआर पै कावा ....

विवाह के गीत अलग महत्व रखते हैं। इनके अनेक प्रकार हैं, विवाह की एक एक क्रिया गीतों के साथ गुथी हुई है, सोहर के गीतों की भी इस जनपद में कुछ कमी नहीं, लोरियाँ और बच्चों के खेल

गीत, व्रत और पूजा गीत, देवी और माता के भजन, तीर्थ और पर्व स्नानादि के गीत, त्योहारों के गीत, धोबियों, कुम्हारों और मछेरों इत्यादि विभिन्नवर्गों के गीत, अनेक रसिये, ढडखे और जिकडी भजन— ये समस्त सामग्री ब्रज के ग्रामों में बिखरी हुई है। इस मशीन युग में, जब कि सिनिमा और ग्रामोफोन इत्यादि ने बुरी तरह परम्परागत लोकसङ्गीत पर आक्रमण शुरू कर रखा है, यह नितान्त आवश्यक है कि लोकगीतों के संकलन तथा अध्ययन की एक विशेष योजना बनाई जाय बल्कि हम मशीन से मदद लेंगे, और इन गीतों को सुरक्षित रखने का यत्न करेंगे। अनेक जनपदों में लोकगीत आन्दोलन जोर पकड़ रहा है, रेडियो पर विभिन्न जनपदों के लोकगीत जब आपस में गले मिलते हैं तो इन जनपदों का पारस्परिक स्नेह बढने का आभास दिखाई देने लगता है, ब्रज के अनेक गीत इतने सुन्दर और महत्वपूर्ण अवश्य हैं कि वे अन्तरप्रान्तीय लोकगीतों की बिरादरी में बडे शौक से गाये जायँ।

ब्रज साहित्य मंडल ने ब्रज के लोकगीतों के संकलन की ओर विशेष ध्यान दिया है, इसके लिये मंडल को बधाई दी जानी चाहिए। सोनई, बरसाना, नन्दगाँव, कोसी, गिडोह, अम्बरपुर, जायरा, चौमुहा, पसौली और निलौठी—इन ग्राम केन्द्रों में मंडल के कुछ स्नेहियों ने श्री सत्येन्द्र की अगुआई में दो तीन सौ के लगभग गीतों का संकलन किया है, आशा है कि मंडल की ओर से इन गीतों का प्रकाशन शीघ्रातिशीघ्र हिन्दी जगत के सम्मुख उपस्थित किया जायगा।

रसिया में रस का झरना प्रवाहित होने लगता है, यद्यपि कहीं-कहीं इस रस की गति विधि मर्यादा का उल्लंघन करने से भी नहीं चूकती। मर्यादा के उल्लंघन की बात सुन कर चौंकने की आवश्यकता नहीं, लोकगीत अपनी मर्यादा स्वयं निश्चित करता है। रसिया के स्वर कभी कभी कुछ अधिक चंचल हो उठते हैं। इन्हें बाँध कर रखने का प्रयास लाभप्रद नहीं होता। हो सकता है कुछ लोग रसिया सुनते समय किसी कदर संकोच अनुभव करें। परन्तु यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिये कि रसिया की विशेषता इसकी मर्यादा सुन्दरता में है। इसके हृदय स्पर्शी स्वरों की उठान इसकी सुन्दरता को और भी

बढ़ा देती है। रसिया आनन्द विभोर मन की वाणी है, दैनिक जीवन इसका धरातल है।

रसिया लोक जीवन का रस है, इसकी परम्परा अखंड है, अविभाज्य है, यहाँ रसिया के कुछ उदाहरण लीजिए।

लम्बरदारी में लगाइ दै बैरी आग
परेला लै दे कंचन कौ।

घटा गई पीहर को
परमेसर है गए मांदी।

हरे की अँगिया जो पैरे
जाय रीझै लम्बरदार

बल्मा झोक लगै लटकन की
मो पै अटा चढ़्यौ न जाय

बछेरी डोलै पीहर में
जा पै को होइगौ असवार

पद्मा पुजारिन बन बैठी
तुलसी के पत्ते चबाय

अँगिया गोटादार
भूलि आई जंगल में

लपट आवै निबुअन की
रस बगिया कितनी दूर

गैलऊआ गोला दै जइयो
कैरी हरियल पक रही ज्वार

मेरी रातों जरी मसाल
बगद गयौ पुल पै ते

कौंधनी सोने की
बनवाइ दै दावेदार

बैठक पोखर पै बनवाइ दै
बलावती के दादा

मेरे इन हाथन की मेहदी
काऊ दिन सुपनौ है जायगी

उठीऐ जुआनी या ढय ते
जैसें आंधी मे भनूड़ो बल खाय

हेल भो पै गोबर की
लडुआ काहे को दिखावे लम्बरदार

तेरौ खसम दरोगा
अब डर काहे कौ

लम्बरदार की लुगाई
तो ते राम डरपै

चना के लडुआ चौं लायौ
मेरे पीहर में जलेबी रसदार

बम्बा पै बोली तीतरिया
तू बन परवाइये बन जायगी

मॅझोली न लइओ।
मेरो गूँठो पामन जाय

तेरे सन्दे पाऊँ मौछिया
पदलवाइ लै

चिलकने गोटे पे
तेरो सब जोपन लहराय

ये सब रसिया के आरम्भिक बोल हैं जो ब्रज के वातावरण में सदैव तैरते रहते हैं। कुछ लोग तो टेक ही में उलझकर रह जाते हैं। परन्तु रसिया का पूरा रस इसके पूर्ण रूप ही में पनपता है। रसिया के दो तीन पूरे उदाहरण भी लीजिए।

तू भँवर वन्याँ बैठ्यौ रहिओ
चल बस मोरे पियौसार,
बोड़ी लै ले दऊँ नाचनी
हरथौ बनाली जीन। चल बस........
नथ के घड़ाय दऊँ गोखरू
खनवारे की छल्ला छाप, चल बस........
दही जमाऊँ भूरी भैंस को
औऊ पुरा भर खाँड़, चल बस.......
चन्दन चौकी पै बैठनों
औँउ अचरन ढोरुं बियार। चल बस........

कारी चूँदरिया रंगाय दै
मेरो जोवन लच्छेदार।
जब ते आई तेरे घर मे
गुजर करी टूटे छप्पर मे
ना देखे तेरे महल तेवारे
ना सोई पलँग नेवार। मेरो जोवन....

ले आए हमारे महाराजा
आज हमें छल करके।
ए सइयाँ तेरे राज म कबहुँ न पैरी चूरियाँ
कलइयाँ भर भर के। ले आए हमारे

जुआनी सरर सरर सरीवे
जैसे अगरेजन को राज।
अँगरेजन को राज जैसे उडै हवाई जहाज। जुआनी सरर सरर
काजर दे मैं का करू मेरे वैसेई नैन कटार। जुआनी सरर सरर
जाते मिल जाय निगाह वही मेरा है जाय तावेदार।
जुआनी सरर सरर
उमर खिंचे पै कोई न पूछे जुआनी की मसार। जुआनी सरर सरर

लोकगीत संकलन कर्त्ता, अपने कार्य में उसी अवस्था मे सफल हो सकता है जब कि उसे अपने कार्य की सच्ची लगन हो। रिचर्ड सी० टेम्पल ने पजाबी लोकगीत सबन्धी अपने कार्य की चर्चा करते हुए लिखा है "मैं उत्सवों मे, मेलों में, दावतों मे तथा शादियों और स्वागों मे सम्मलित हुआ हूँ। यथार्थ यह है कि मैं प्रत्येक ऐसे स्थान पर गया जहाँ किसी गायक के आने की सम्भावना हो सकती थी। मैं ने उन गायकों को ऐसे फुसलाया कि वे मेरे निजी लाभ के लिए भी गावें। मेरे सन्मुख ऐसे मामले भी थे जिन मे ऐसे अवसरों पर झगडे उठ खडे हुए हैं और उनसे उस गायक का पता लगा है जो इस अवसर पर पौरोहित्य कर रहा था, और तब उसे मेरे लिए गाने को प्रेरित किया जा सका है, और कभी कभी स्वाग खेलने वाले पढे लिखे लोगों को स्वागों की उन की निजी हस्तलिखित प्रति मुझे देखने देने के लिए प्रेरित किया जा सका है। जब कभी केवल ग्रीष्म ऋतु में मैं घूमने वाले जोगी, मीरासी, भराई तथा ऐसे ही लोगों से गलिओं और सडकों पर मिला हूँ, तब उन्हें रोक कर यथा समय उनसे जो कुछ वे जानते थे उगलवा लिया है। कभी कभी देशी राजाओं और सरदारों के दूतों और प्रतिनिधियों से मिलने और बातचीत करने का भी अवसर मिला है ये वे लोग हैं जो अपने स्वार्थ तथा लाभ के लिए कुछ भी करने को सदैव तत्पर रहते हैं उन्हें इस सम्बन्ध में सकेत मात्र कर देने

से एकाधिक लोकगीत मुझे प्राप्त हुए हैं। अन्त में व्यक्तिगत भेंट तथा पत्र-व्यवहार, गोरे और काले सभी प्रकार के ऐसे व्यक्तियों से, जो सहायता कर सकते थे, उपयोगी सिद्ध हुआ है, और बहुत सी सामग्री मुझे इस प्रकार प्राप्त हुई है।"

अन्त मे मैं इतना ही कह सकता हूँ कि-ब्रज की लोकगीत यात्रा के सम्बन्ध मे मुझे मथुरा, प्रेमसरोवर, बरसाना, नन्दगांव, ऊंचागांव, कोसी, पुष्पसरोवर, गोवर्धन, राधाकुंड, मुखराई, कढेरू का नंगरा, आनरा छायली, उर्खरा, शाहदरा, नुनियाई और धांधूपुर इत्यादि स्थान देखने का अवसर मिला है, और मैं उन सब मित्रों का ऋणी हूँ जिन के सहयोग से मुझे अनेक लोकगीत प्राप्त हुए। मैं ब्रज साहित्य मंडल का भी ऋणी हूँ जिस के तत्वावधान मे इस शिविर का कार्यक्रम निश्चित हुआ और मुझे यहाँ आप जैसे महानुभावों के सन्मुख ब्रज के लोकगीतो पर कुछ कहने का अवसर दिया गया।

लोकवार्ता और लोकगीत

[श्री सत्येन्द्र एम० ए०]

पहले किसी भाषण में यह बताया जा चुका है कि हमारे साहित्य के दो रूप होते हैं—एक विशिष्ट रूप और दूसरा साधारण रूप। हमारा शिष्ट रूप आयोजन के साथ होता है। उसमें हम साधारण को स्थान नहीं देते। साधारण को उसमें सम्मिलित कर दिया जाय तो यह माना जाता है कि उसमें दोष आ जाता है इसलिए वह बहिष्कृत कर दिया जाता है। साधारण कोटि का साहित्य सार्वजनिक साहित्य होता है। साधारण जन के मनोभाव, उसका दुख सुख, हँसी इसी साहित्य में अभिव्यक्त होते हैं।

यह लोक-साहित्य जीवन से घनिष्ठ संबंध रखने वाला है। लोक-जीवन की प्रवृत्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ एक नहीं अनेक रूप ग्रहण करती हैं। ये सभी प्रवृत्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ लोक-वार्त्ता के अन्तर्गत आ सकती हैं। किन्तु शिष्ट वर्ग के भेद से साधारण वर्ग 'लोक' शब्द से अभिहित होने लगा है। यह अंग्रेजी के 'फोक' का पर्यायवाची है। इस भेद के कारण लोक-जीवन की प्रवृत्तियों और अभिव्यक्तियों के वे रूप जो शिष्ट वर्ग द्वारा मान्य हुए हैं 'लोकवार्त्ता' से भिन्न माने जाने लगे हैं। वे कला 'साहित्य' 'संगीत' के नाम से पुकारे जाते हैं। उनके सधे-सधे रूप और आदर्श होते हैं, उनमें नई सुन्दर और दिव्य कल्पनाएँ होती हैं। उनमें बुद्धि, युक्ति, तर्क, भाव और इनके संस्कृत रूपों का महत्व होता है। जीवन के निखरे का दर्शन इनमें मिलता है। उधर लोक-वार्त्ता में जीवन का वास्तविक रूप प्रत्यक्ष होता है। उसे हम कला न कहें, साहित्य न कहें तभी ठीक है। वे जीवन की अभिव्यक्तियाँ हैं। स्वयमेव जीवन हैं। साधारण लोक के अपने सहज विश्वास जो सभ्य भाषा में अन्धविश्वास कहे जाते हैं, उसके हृदय की साधारण और विशेष प्रतिक्रियायें, प्राचीन परंपराओं के अवशेष और रूप

लोक-वार्त्ता में मिलते हैं। समाज में सदा ही ये दोनों रूप मिल जाते हैं। वैदिक साहित्य में भी साहित्य के ऐसे ही दो धरातल देखे जा सकते है। विशिष्ट धरातल में वेदों की वे ऋचायें मानी जा सकती है जो विविध देवी-देवताओं की अनुभूतियों से संबंध रखती हैं, जिनमे कल्पना का सौष्ठव अपनी पूर्ण सुकुमारता के साथ व्यक्त हुआ है। इस कोटि में 'ऊषा' का वर्णन सबसे श्रेष्ठ है। साधारण कोटि की रचनाओं मे वे रचनाएँ आती हैं जिनमें सामाजिक बातों पर प्रकाश डाला गया है जैसे जुआ खेलने पर दुःख प्रकट करने से संबंध रखने वाली। ऐसी रचनाओं में काव्य-कल्पना का कम प्रयोग हुआ है। और साथ ही वे रचनाएँ भी जिनमें लोकवार्त्ता का उल्लेख है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है मनुष्य-बलि का उल्लेख वेदों मे जिस रूप में मिलता है वह लोकवार्त्ता का ही रूप माना जायगा। उसमे हमे किसी परंपरागत आचार की अभिव्यक्ति की झाँकी मिलती है।

तात्पर्य यह है कि लोक-वार्ता बहुत प्राचीन वस्तु है। वेद भी मौखिक रूप मे सुरक्षित रखे गए और लोकवार्ता भी सुरक्षित मौखिक रूप में ही रखी गई है। वेदों ने हमारी मानसिक संस्कृति और धर्म की दृष्टि बनाने मे बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। वेद ही हमारी सभ्यता और संस्कृति के मूलाधार है। इतनी प्राचीन पुस्तक वेद के कारण प्राचीन आर्य जाति सबसे अधिक सभ्य रही। पुराणों मे भी वेदों की व्याख्या है। लोक-जीवन को समझने के लिए पुराणों ने भी बड़ा सुन्दर कार्य किया। इस प्रकार लोक-जीवन और वैदिक-जीवन को मिलाने की चेष्टा पुराणों द्वारा हुई। पुराणों मे हम सर्व-संग्राहक धर्म पाते है। इस प्रकार हमारे लोक-जीवन और शिष्ट-जीवन दोनों का सम्बन्ध निरन्तर चलता रहा है। धर्म के क्षेत्र मे भी यही अवस्था रही है। लोक-जीवन मे प्रचलित वार्ताओं का उपयोग प्रत्येक धर्म के साहित्य ने किया है, ऐसा प्रतीत होता है। वाल्मीकि-रामायण और तुलसी के रामचरितमानस की कथा में भेद है। निश्चय ही तुलसी ने अपने कथानक को लोक-प्रचलित वार्ता से संशोधित किया है। सूफी कवियों ने तो लोक-कहानियों को ही अपने विचारों को अभिव्यक्त करने का माध्यम बनाया। यह सब लोक-वार्ता की आन्तरिक शक्ति के कारण हुआ। आज हमारे साहित्य-मनीषी उस

शक्ति से दूर पड गये हैं। कुछ विदेशियों ने इस दिशा में उद्योग किया है। उनका उद्योग शुद्ध ज्ञान विज्ञान की दृष्टि से हुआ नहीं माना जा सकता। उन्हें भारतवासियों को शासन करने की दृष्टि से समझने की आवश्यकता थी। लोक-वार्ता की सामग्री से ही उन्हें समझने में सच्ची सहायता मिल सकती थी। किन्तु उनके उस उद्योग में भी वैज्ञानिक ज्ञान की नींव पड गयी। आज हम स्वतन्त्र हो गये हैं, अब हमें स्वयं अपने मर्म को समझने की आवश्यकता है। हमें अपने साहित्य में के लिए भी शक्ति और सामग्री चाहिए। वह 'लोकवार्ता' से ही मिल सकेगी। जिस प्रकार स्थापत्य और मूर्तियों के खण्डहरों में इतिहास के अवशेष मिलते हैं, जिनसे इतिहास की खोई हुई कड़ियाँ जुडती प्रतीत होती हैं, वैसे ही लोकवार्ता में भी हमें ऐसे ऐतिहासिक महत्व की सामग्री प्राप्त हो जाती है। यह अवश्य है कि उस ऐतिहासिक ध्वस का शोध विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। हम उन विशेषज्ञों के लिए यदि सामग्री ही प्रस्तुत कर दें, तो क्या कुछ कम महत्व की राष्ट्रीय-सेवा कर रहे होंगे? नहीं। इस सामग्री का प्रस्तुत करना भी एक महान् कार्य है। लोक-जीवन की सामग्री मौखिक रूप में चली आ रही है, वह नष्ट न हो जाए, इसलिए हमारा पावन कर्तव्य है कि उसे जितना ग्रहण कर सके करले।

किन्तु यह जान लेना भी तो पहले अत्यन्त आवश्यक है कि लोकवार्ता के अन्तर्गत किन किन विषयों का समावेश होता है। हम यहाँ उनका उल्लेख किये देते हैं—

१—वे विश्वास और आचरण-अभ्यास जो सम्बन्धित हैं—

१—पृथ्वी और आकाश से
२—वनस्पति जगत से
३—पशु जगत से
४—मानव से
५—मनुष्य-निर्मित वस्तुओं से
६—आत्मा तथा दूसरे जीवन से,
७—परा-मानवीय व्यक्तियों से (जैसे देवताओं, देवियों तथा ऐसे ही अन्यों से)

८—शकुनों-अपशकुनों, भविष्यवाणियों, आकाश-वाणियां से
९—जादू-टौनों से
१०—रोगों तथा स्थानों की कला से

२—रीति-रिवाज—

१—सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थायें
२—व्यक्तिगत जीवन के अधिकार
३—व्यवसाय-धन्धे तथा उद्योग
४—तिथियाँ, व्रत तथा त्यौहार
५—खेल-कूद तथा मनोरञ्जन

३—कहानियाँ, गीत तथा कहावतें—

१—कहानियाँ (अ) जो सच्ची मान कर कही जाती हैं।
(आ) जो मनोरञ्जन के लिए होती हैं।
२—गीत, सभी प्रकार के
३—कहावतें तथा पहेलियाँ
४—पद्यबद्ध कहावतें तथा स्थानीय कहावतें।

यह सूची हमने यहाँ श्रीमती बर्न महोदया की पुस्तक के आधार पर प्रस्तुत की है। इससे हमें यह विदित हो जाता है कि लोक-वार्ता के अन्दर 'आचार' और 'शब्द' दोनों ही प्रकार की सभी अभिव्यक्तियाँ आ जाती हैं। आप देख सकते हैं कि यह कितना महान् कार्य है। कितने उत्तरदायित्व का भी है। हमारे जीवन की कोई भी बात इसमें छूटने नहीं पायी। हमे भी संग्रह करते समय यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि छोटी से छोटी बात भी न छूटे।

आज हम यहाँ विस्तार से इन सभी को संग्रह करने की प्रणाली पर बात नहीं करेंगे। लोक-साहित्य पर ही हमें आज विशेष ध्यान देना है।

इस प्रकार लोक-साहित्य का धरातल कई प्रकार का हो जाता है। उन प्रकारों में लौकिक साधारण साहित्य के दो वर्ग हो जाते हैं। चेतन मस्तिष्क के धरातल वाले को ग्राम नागरिक साहित्य का नाम दे सकते हैं। इस ग्राम नागरिक साहित्य में भी आपको दो रूप मिलते हैं। एक को सहज और दूसरे को विशिष्ट कह सकते हैं। ये विशिष्ट

रचनाए यत्नशील उद्योग मे रची जाती हैं, इनमें ग्रामीण मस्तिष्क भी अपने ज्ञान के वैभव को प्रदर्शित करने के लिए उत्सुक रहता है। इसी कारण इनमें प्रतियोगिता का भाव मिलता है। ऐसे साहित्य मे गॉवों म प्रचलित प्रबन्धकाव्यात्मक जिकडी के भजन आ सकते हैं। उसकी तुलना में उधर रसिया लीजिये। यह सहज क्षेत्र का साहित्य है। ये मुक्तक काव्य होते हैं। यदि वह परम्परा से चल कर आया है तो उसके लक्षण और होते हैं। और जब इस सहज काव्य म विलास की भावना आ जाती है तो उसमें तथाकथित अश्लीलता का प्रयोग हो जाता है। इसी तरह एक और साहित्य हमें मिलता है—नागरिक ग्राम साहित्य। यह उन व्यक्तियों का साहित्य है जो नगर के अन्दर रहते हे। किन्तु नागरिक ऊँचाई पर नहीं पहुँचे। उद्योगी वर्ग मे इन्हे सम्मिलित किया जा सकता है। इनकी ये रचनाएँ 'ख्याल' कहलाती हैं। यह साधारण साहित्य पहली अवस्था का है। ब्रज मडल के खोज की अधिकांशत पहली चीज यही है। दूसरी अवस्था में अर्द्ध चेतन और उपचेतन मानसिक अवस्था की चीजें आती हैं। इनका सम्बन्ध पुरुष समाज से होता है। यह परंपरा से आता है। इसम पता नहीं चलता कि निर्माण करने वाला कौन था। इनम भावों का बाहुल्य रहता है। तथा किसी न किसी कथा का आश्रय लिया जाता है। कथा के पात्र विशेष जीवट के होते हैं, या भक्त, महात्मा। जीवट के पात्रों के काव्य में भी भाव भरे रहते हैं। लेकिन ये उतने गहरे नहीं होते जितने कि भक्त-महात्माओं के में। अत दूसरी अवस्था का परम्परा प्राप्त साहित्य है जो साधारणत प्रबन्ध काव्य है। ये गेय प्रबन्ध काव्य हुआ करते हैं, इनमें नरसी—ढोला—श्रमणों के गीत और भरथरी के गीत आते हैं।

ये मध्यम काल के चेतन-मस्तिष्क की रचनाए हैं। हमारी सस्कृति का सब से नीचा धरातल आदिम मानव है। जिस तरह कहीं कहीं इनकी ठठरियां मिलती हैं और कहीं कहीं वशज भी मिलते हैं, इसी प्रकार आदिम मानव की परंपरा है, और उनमें जो प्रचलित साहित्य है वह कथा कहानियों के रूप मे है। तीसरी अवस्था का साहित्य हमें स्त्री-समाज में मिलता है। पुरानी परम्परा की रक्षक नारी है। यदि आप स्त्री-समाज मे प्राप्त होने वाले साहित्य को देखें तो सभी चीजें मिल जाएँगी। यथार्थ में विवाह आदि के विधान में

स्त्रियों का अधिक भाग है। वेद के पंडितों को धार्मिक अनुष्ठानों मे कितना कम भाग दिया गया है, यह जीवन के सांस्कृतिक अनुष्ठानों को देखने से विदित होगा। लोक-जीवन की जय यहाँ पर मिलती है। संस्कारेतर चीजे भी स्त्री-समाज मे मिलती है। जैसे सावन के गीत—बारहमासे। स्त्रियो के निजी कोमल रूप इन्हीं गीतो मे प्रकट होते हैं। चौथी अवस्था मे त्यौहार सम्बन्धी गीत और कहानियाँ आती है। पांचवी अवस्था मे मानवीय जन्म सम्बन्धी संस्कार। इनमे जो सहज विश्वास दिखलाई पड़ते है उन्हे देखकर आश्चर्य होगा। ऊपर जिस साहित्य की चर्चा हमने की है वह शिष्ट-उच्च वर्ग के त्यौहारो से सम्बन्ध रखने वाली चीज़ है।

मौखिक वार्ता में एक बुढ़िया पुराण आता है। यह ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब के यहाँ मिलता है। इनमे आपको वह यथार्थ गहरी चीजें मिलेगी जो कि इतिहास को प्रभावित करने वाली होती है। तो मानव के आदिकाल से लेकर अब तक के इतिहास की सामग्री इसमे मिलती है। उन सब को हमे संग्रह करने की आवश्यकता है। इसमे दो बातो का ध्यान रखना पड़ता है। विविध जातियो के पुराणो का उल्लेख और संग्रह कर लेना चाहिए। इनमे एक तो आनुष्ठानिक रूप है। उसका विवरण हमे लिख लेना चाहिए। उदाहरण के लिए घूरे पूजने, कुआ पूजने की प्रथायें आदि। दूसरा है अनुष्ठान के अंग स्वरूप जो सांस्कारिक उद्‌गार है। ऐसे वाक्य मिलते है जो गीत नहीं होते है, संवाद रूप में भी मिलते है। तीसरे सांस्कारिक गीत होते है। उनका भी संग्रह होना चाहिए। इनके दो रूप हो सकते है—एक तो वारण-सम्बन्धी या दैवी। विवाह संस्कारों मे ये होते है। जैसे आँधी पानी को बाँधना। ये तांत्रिक कहे जा सकते हैं। त्यौहारों में भी अनुष्ठान का उल्लेख मिलता है। उसका विवरण देने की आवश्यकता है। अनुष्ठान के साथ कहीं कहानियाँ मिलती है, कहीं गीत मिलते है। त्योहारो के साथ साधारणतः तीन चीजें रहा करती हैं। १ आनुष्ठानिक क्रिया, पूजा-विधान, २ कहानी, ३ गीत। इन सबके संग्रह और अध्ययन की आवश्यकता है। इसमे कार्त्तिक का महीना विशेष स्थान रखता है। इनमे गीतों के अलावा कहानियो का भण्डार तीस दिन तक चलता रहता है।

मौखिक साहित्य की दृष्टि से हम अपने वर्ग को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) उच्च वर्ग (२) निम्न वर्ग—यह सब समाज व्यवस्था में बँधे हुए होते हैं। (३) विशेष वर्ग है—गाना बजाना जिनका पेशा हो जाता है जैसे जोगी—हमारे यहाँ स्त्रियों में जो गहरी चीजें मिलती हैं उससे भी गहरी चीजें यहाँ मिलेगी। इस तरह विशेषकर लौकिक अनुष्ठान को अपनाने और इस साहित्य के जितने विभेद होते हैं उन्हें संग्रह करने की आवश्यकता है। हमने अब तक कहानी और गीत की चर्चा की है। इसके अलावा चुटकुले और कहावतें भी संग्रह करने की चीजें हैं। किन्तु इसके साथ हमें कुछ और बातों पर ध्यान रखने की जरूरत है।

लोकवार्ता का सब कलाओं से चाहे सीधा सबन्ध न हो लेकिन फिर भी उसका लोक-जीवन से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। लिखते समय शब्दों के उच्चारण और ध्वनि निशान पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। ठीक उसी प्रकार हमें इस साहित्य को लिपिबद्ध करना चाहिए जिस प्रकार कि बोलने वाला बोलता है। उसके उच्चारण को बहुत ध्यान से सुनकर समझ कर उसे अपनी लिपि के द्वारा बद्ध कर लेने की आवश्यकता है। जैसे खाने-कमाने, आ-जा आदि में से क्या उच्चारण है? प्रधान केन्द्र निम्न वर्ग का होना चाहिए। जमींदार और मुखिया से लेकर निम्न श्रेणी के लोगों से मिलकर मीठी बातों द्वारा सामग्री एकत्रित करना चाहिए।

लोकगीतों का संग्रह कैसे किया जाय?

१—पहले तो आप विविध प्रकार के व्यक्तियों से चर्चा करके यह पता चला लें कि आपके गाँव में कौन किस प्रकार के गीतों का कितना धनी है।

२—इस चर्चा चलने का अपना अपना ढङ्ग निराला हो सकता है। किन्तु सुगमता वहाँ होती है जहाँ आप भी उनके साथ बराबर का भाग ले सकें। आपको भी कुछ लोक गीत याद हों। मैं से क्या उच्चारण है' उन्हें आप भी सुनायें। उनके मुकाबले से और गीत गाँववाले आपको सुनाने लगेंगे।

३—यह भी आवश्यक है कि गाँव में जिससे आपको गीत लेने हैं उसका विश्वास आप प्राप्त करलें। गाँववालों में अपने गीत सुनाने

के लिए उत्सुकता का अभाव नहीं मिलेगा? हाँ उन्हें आपको लिखाने में रुचि नहीं। लिखाने में उन्हें रुक रुककर कहना पड़ता है इस कारण उन्हें कहने में जो आनन्द आता है उसमें बाधा पड़ती है, उतना धैर्य भी उनमें नहीं होता; फिर किसी बात के लिखे जाने के प्रति उनके मन में एक अज्ञात आशङ्का भी विद्यमान रहती है। उनके जीवन में लिखने के अवसर आये है, वे पुलिस या पटवारी जैसे राजकर्मचारी द्वारा ही आये है। यह संस्कार बाधा डालता है। किन्तु आपका नम्र आचार गीत गानेवाले के प्रति हृदय में आदर, उनका हित करने की भावना आदि की विद्यमानता से ये अड़चनें दूर हो सकती हैं। यथावसर कुछ प्रलोभन भी आवश्यक हो सकता है।

४—स्त्रियों के पास जो सामग्री कण्ठाग्र है, उसे प्राप्त करने के लिए आपको किसी स्त्री को ही माध्यम बनाना होगा। वह आपकी माँ, बहिन अथवा स्त्री हो सकती है। बहुत सी सामग्री तो स्वयं इन्हीं से घर में ही मिल जायगी, शेष ये अन्य पास-पड़ौस की स्त्रियों से एकत्रित करा सकती है।

यह बात ध्यान देने की है कि यदि हम स्त्रियों को इस कार्य में प्रवृत्त कर सकेंगे तो समाज का अन्यथा भी बहुत लाभ होने की सम्भावना है। स्त्रियाँ मिल-बैठ कर बहुधा कलह की बातें, परनिन्दा की बातें ही किया करती हैं। उनके पास चर्चा का कोई और विषय नहीं होता। आपकी प्रेरणा से वे गीतों की चर्चा करने लगेंगी।

५—इन गीतों को लिखते समय प्रत्येक शब्द के उच्चारण पर विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है। विशेषकर निम्न बातों पर—

अ—खड़ी बोली में जो शब्द अकारान्त हैं, उसका उच्चारण कैसा होता है। वह अकारान्त रहता है या उकारान्त हो जाता है, या कुछ और। उदाहरणार्थ: 'एक जाट ओ जाट' या 'एक जाटु ओ जाटु' या 'एक जाट ओ जाटु'। अन्तिम उदाहरण की भाँति क्या कहीं अकारान्त और कहीं उकारन्त होता है। ठीक जैसे बोला जाता है वैसे ही लिखा जाना चाहिए।

आ—साधारणत: जो शब्द अलग अलग समझे जाते हैं, बोलने में वे मिले हुए तो नहीं प्रतीत होते। यदि मिले हुए सुनाई पड़ते हैं तो

उन्हें वैसे ही लिखना—उदाहरण के लिए 'एक जाट ओ' को बोलने वाला यों बोल सकता है 'एक जाटोओ'।

८—कहीं कोई स्वर साधारण से अधिक समय तक तो नहीं बोला जाता? यदि बोला जाता है तो उसे उसी अनुमान से दुहरा कर लिखो। जैसे 'एक जाटु ओ' को जब मिलाकर बोला जाता है तो प्राय यह विदित होता है कि अन्तिम ओ स्वाभाविक समय से तिगुना अधिक समय लेता है, तो उसे यों लिखा जाना चाहिए 'एक जाटो ओ ओ।' नीचे अर्द्धवृत्त रेखाओं से उन ओ ध्वनियों को रेखाङ्कित कर देना चाहिए। इससे यह प्रकट होगा कि ये ध्वनियाँ स्वतन्त्र नहीं एक ही 'ओ' ध्वनि का बढ़ा हुआ रूप हैं।

ई—स्वर के स्वरित रूप पर ही ध्यान नहीं देना, उसके लघु, लघुतर, लघुतम उच्चारणों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। 'एक' का उच्चारण एक (जिसमें ए का पूर्ण उच्चारण है जैसे 'एक आदमी' में है) एक ('ए'का लघु उच्चारण जिसमें 'क' पर जोर पड़ता है, 'ए' पर नहीं जैसे 'एक दिन' में 'ए' का), एक (इसमें ए, का उच्चारण 'य' के निकट है), अथवा 'इक' की भाँति उच्चारण है।

उ—यही ध्यान ऐ—(ऐरावत, के 'ऐ' की भाँति अथवा 'अइ' की भाँति), औ ('और' के औ' की भाँति या 'अउ' की भाँति), इ, उ, य, व की ध्वनियों पर भी विशेष ध्यान रखना होगा।

ऊ—कुछ शब्दों का विशेष रूप ध्वनि सयोगों से बन जाता है, वे हमारे ध्यान से दूर न हो जाने चाहिए। जैसे वर्षों के लिए कहीं-कहीं जो शब्द मिलता है, उसका ठीक-ठीक उच्चारण क्या है 'ब्वों,मुव्वों' या क्या? इसी प्रकार यहाँ—के लिए 'ह्या' जैसे शब्द बोले जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक शब्द के उच्चारण पर ध्यान देकर ही उसे ठीक ठीक लिपिबद्ध करने की चेष्टा होनी चाहिए। जो ध्वनियाँ अपनी देवनागरी वर्णमाला में ठीक ठीक प्रकट न हो सकें उनके लिए अपने चिन्ह भी बनाये जा सकते हैं इन चिह्नों को सोदाहरण समझा देने की आवश्यकता है।

६—लिपिबद्ध करते समय अनेकों शब्द ऐसे आ सकते हैं जिन से आप परिचित न हों। ऐसे शब्दों को भी ज्यों का त्यों ही लिखिये।

हाँ उसके अर्थ के सम्बन्ध में आप कहनेवाले से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। यह सदा संभव नहीं हो सकता कि कहनेवाला उसका अर्थ जानता ही हो। फिर भी उसकी दी हुई व्याख्या का नोट आपको कर ही लेना चाहिए। साथ ही गॉव में तथा ओर-पास अन्य व्यक्तियों से भी उसकी व्याख्या पूछनी चाहिए।

७—प्रत्येक गीत के साथ निम्न लिखित सूचनाएँ अत्यन्त आवश्यक हैं—

अ—गीत सुनानेवाले का नाम, जाति तथा अवस्था।

आ—गीत कब गाया जाता है ?

इ—उस गीत के सम्बन्ध मे कोई विशेष बात कही जाती है ?

ई—गीत किस गॉव मे सुना गया ?



ब्रज की कला—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र तथा संगीत

[श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०, अध्यक्ष पुरातत्त्व संग्रहालय मथुरा]

जीवन के सुन्दर रूप की अभिव्यक्ति ललित कला है, जो मानव-हृदय की देन है और जिसकी अनुभूति भी हृदय से सम्बंधित है। मनुष्य के रसात्मक भाव जब परिपक्व होकर निकलते हैं तब ललित कला का रूप धारण करते हैं। ये रूप मूर्त और अमूर्त दोनों हो सकते हैं। साहित्य (काव्य, नाटकादि), संगीत (गायन, वाद्य तथा नृत्य), चित्रकला, मूर्तिकला तथा स्थापत्य—ये ललितकला के प्रधान स्वरूप हैं। इन्हें 'ललितकला' या केवल 'कला' के नाम से अभिहित किया जाता है।

भारतीय समाजशास्त्रियों ने जीवन को पूर्ण बनाने के लिये सत्य और शिव के साथ सौंदर्य को आवश्यक अंग माना है। सौंदर्य के बिना जीवन नीरस हो जाता है। यही कारण है कि हमारे यहाँ पुरातन काल से धर्म और दर्शन के साथ-साथ कला का अस्तित्व रहा है। इन तीनों की सम्मिलित त्रिवेणी में अवगाहन इहलोक तथा परलोक की सिद्धि का साधन कहा गया है।

हमारी प्राचीन मथुरा नगरी ललितकला विशेषतः मूर्तिकला तथा वास्तुकला (स्थापत्य) की केन्द्र थी। इतिहास से पता चलता है कि इस नगरी में तथा इसके समीपस्थ प्रदेश में ई० पू० सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक अगणित स्तूप, विहार, मंदिर, महल आदि बने परन्तु कालचक्र तथा दुर्दान्त आक्रमणकारियों के निष्ठुर हाथों ने एक भी समूचा नमूना नहीं छोड़ा। उस काल की वास्तुकला का यदि प्राचीन स्थापत्य का एक भी समूचा उदाहरण आज बचा होता तो उसे देख कर पता चलता कि माथुर शिल्पी अपने कार्य में कितने प्रवीण थे। उनके द्वारा ई० पू० छठी शताब्दी में बनाए हुए एक स्तूप को देख कर ई० दूसरी शताब्दी के लोगों को भ्रम हो गया था कि वह

मनुष्य की कृति न होकर देवों की कृति है। इसीलिए उन्होंने उसे 'देवनिर्मित' स्तूप लिखा है। स्तूपों, मंदिरों तथा महलों के कुछ अवशेष वेदिकाओं, तोरणों, बहिर्द्वारों, गवाक्षों, खंभों तथा इमारती पत्थरों के रूप में मथुरा नगर तथा उसके आसपास से मिले हैं। मूर्तिकला के अध्ययन के लिए तो विविध धर्मों से तथा लोक-जीवन से सम्बन्धित सहस्त्रों मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन बची हुई विशाल सामग्री को ही देख कर पता चलता है कि माथुर शिल्पी तथा कलाकार-प्रकृति चित्रण के साथ-साथ दैवी तथा मानव भावों के अङ्कन में कितने सिद्धहस्त थे ?

व्रज में चित्रकला तथा संगीत का भी विकास हुआ। चित्र-कला की कोई निजी प्राचीन शैली व्रज में नहीं पाई गई, परन्तु इन कला को व्रज की बड़ी भारी देन है। भगवान कृष्ण की विविध लीलायें तथा व्रज के मनोरम प्राकृतिक स्थान सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही चित्रकारों के प्रधान वर्ण्य विजय हुए और उस समय से लेकर भारत मे प्रचलित सभी कला-शैलियों में हम इन विषयों का प्राधान्य पाते हैं। संगीत की प्राचीनता तथा उसके विस्तार का परिचय हमे उन अनेक पाषाण तथा मृण्मूर्तियों से होता है जिनमें विविध प्रकार के वाद्य बजाते हुए स्त्री-पुरुष, नृत्य करती हुई अलंकृत नारियों तथा संगीतोत्सव के अन्य अनेक दृश्य मिलते हैं। ई० सोल-हवीं शताब्दी से इस कला की और भी उन्नति हुई, जिसका प्रमाण हमे तत्कालीन साहित्य मे तथा रास जैसी अनोखी वस्तु के आविर्भाव और उसके विकास मे मिलता है।

व्रज की कला के इतिहास को समझने के लिये यहाँ पर शासन करने वाले विभिन्न राजवंशों का काल जान लेना आवश्यक होगा। मथुरा मे मौर्य काल से पहले की कला-कृतियाँ, शायद मिट्टी की कुछ मातृदेवी की मूर्तियों को छोड़कर नहीं प्राप्त हुई है जिससे हमे मथुरा कला का प्रारम्भ मौर्यकाल के प्रारम्भ से ही मानना पड़ता है। यही प्रारम्भकाल साँची, भरहुत, बोधगया तथा सारनाथ की कला का भी है। हो सकता है, भविष्य में इसके पूर्व की वस्तुएँ मिलने से हम तदनुसार मथुरा कला के आरम्भिक काल की ओर पीछे ले जा सकें। अस्तु।

मथुरा प्रदेश ई० पू० ३२५ से लेकर ई० पू० १८४ तक मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत रहा। इसके बाद से लेकर लगभग ई० पू० २० तक यहाँ शुङ्ग राजाओं का शासन रहा, यद्यपि बीच में लगभग १०० ई० पू० से ५७ ई० पू० तक यहाँ मध्य एशिया से आने वाले शक क्षत्रपों का प्रभुत्व हो गया था। ई० पू० २० के बाद से १८० ई० तक यहाँ कुषाणों (शकों की एक शाखा) का राज्य रहा। इसके बाद से लेकर लगभग ३२० ई० तक यह प्रदेश नागवंशी शासकों द्वारा शासित रहा और फिर ३२० ई० से लगभग ६०० ई० तक यहां गुप्त-नरेशों का साम्राज्य रहा। इसके बाद से लेकर बारहवीं शती के अन्त तक (मध्यकाल में) मथुरा विभिन्न प्रादेशिक हिन्दू राजाओं के प्रभुत्व में रहा। फिर दिल्ली की अनेक मुसलमानी सल्तनतों की अधीनता में १५२६ ई० तक रह कर यह प्रदेश मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत लगभग १७ वीं श० के अन्त तक रहा। १८ वीं श० में यहां मराठों तथा भरतपुर के जाटों की प्रमुखता रही और १६ वीं श० के आरम्भ से लेकर अब तक यहाँ ब्रिटिश शासन रहा जो सौभाग्य से अभी समाप्त हो गया है। लगभग १४ वीं श० से मथुरा प्रदेश की संज्ञा 'ब्रज' अधिक प्रचलित होगई। वर्तमान ब्रज में मथुरा, आगरा, भरतपुर रियासत के अतिरिक्त समीपस्थ अनेक जिला तथा रियासतों के भाग भी सम्मिलित हैं।

मथुरा कला का 'स्वर्ण-युग' कुषाण काल के प्रारम्भ से लेकर गुप्त काल के अन्त तक कहा जा सकता है। कला की दृष्टि से तथा तत्कालीन संस्कृति की व्याख्या करने की दृष्टि से यह युग बड़ा गौरव पूर्ण रहा है। यद्यपि इसके बाद भी लगभग १२०० ई० तक मथुरा की मूर्ति तथा स्थापत्य कलायें जारी रहीं तो भी उनमें वह सजीवता तथा विशिष्टता नहीं मिलती जिसके दर्शन हमें पूर्वोक्त युग में मिलते हैं।

बारहवीं श० के बाद से मथुरा कला का प्रकाश क्षीण पड़ जाता है और हमें ४ शताब्दियों तक उसके दर्शन नहीं होते। पर १६ वीं श० के कला-पुनरुद्धार युग में साहित्य, संगीत तथा चित्रकला के रूप में हमें उसका आलोक पुनः दिखाई पड़ता है।

(१) स्थापत्य—

(क) जैन तथा बौद्धधर्म के स्तूप और मठ

जैसा कि ऊपर कहा गया है, स्थापत्य की एक भी समूची कृति आज व्रज मे नहीं बच पाई। मथुरा में जैनधर्म का केन्द्र होने का प्रमाण ई० पू० सातवीं शताब्दी से मिलता है जब कि वर्तमान कंकाली टीले के स्थान पर उनके 'देवनिर्मित स्तूप' की रचना हुई। स्तूप में तीर्थङ्कर या भगवान बुद्ध या उनके प्रमुख शिष्यों के अवशेष—राख, नख, बाल आदि रखे जाते थे। जब भगवान बुद्ध का देहावसान हुआ था तब उनके अवशेष आठ भागों में विभक्त कर प्रत्येक के ऊपर एक-एक स्तूप की रचना की गई थी। मौर्यसम्राट् अशोक के समय बौद्ध स्तूपों का निर्माण बड़ी संख्या में हुआ। ऐसे स्तूपों के उदाहरण साँची (भोपाल रियासत) तथा सारनाथ (बनारस के पास) में मिलते हैं। ये स्तूप काफी विशाल हैं। मथुरा मे भी इस काल में ऐसे ही बड़े स्तूपों की रचना हुई होगी। ऐसे स्तूपों का नमूना मथुरा से प्राप्त एक आयागपट्ट (नं० क्यू० २) पर सुरक्षित है। ये स्तूप ईंट या पत्थर के बनाये जाते थे। सब से नीचे एक चौकोर आधार बनाया जाता था, उस पर गोलाकार रचना (Drum) और उसके भी ऊपर एक अंड का निर्माण किया जाता था। स्तूप के सब से ऊपर एक डंडे या यष्टि के सहारे छत्र रहता था। कभी कभी आधार के ऊपर ही अंड की रचना की जाती थी और बीच का ड्रम नहीं रखा जाता था। स्तूप का वहिर्भाग विविध भाँति के उत्कीर्ण शिलापट्टों से सजाया जाता था। स्तूप की परिक्रमा के लिये एक वेष्टनी (कठवरा) बनाया जाता था इसे वेदिका कहते थे। इसमे थोड़ी-थोड़ी दूर पर खंभे आड़े पत्थरों (सूची) के द्वारा जोड़े जाते थे। प्रत्येक दो खंभों के ऊपर एक-एक पत्थर रखा जाता था, जिसे उष्णीष या मूर्धस्थ पत्थर कहते हैं। वेष्टनी या वेदिका के ये सब पत्थर विविध भाँति की मूर्तियो से अलंकृत होते थे। वेदिका के चारो ओर एक एक तोरण द्वार रहता था।

स्तूपों के अतिरिक्त मठों या विहारों की भी रचना की जाती थी। जिनमे भिक्षु लोग रहते थे। मथुरा से प्राप्त कई शिलालेखो से ज्ञात होता है कि यहाँ जैनियों तथा बौद्धो के अनेक विहार थे जिनमें

बड़ी संख्या में भिक्षु लोग रहते थे। ह्वेनसांग आदि चीनी यात्रियों के विवरणों से भी यह बात पुष्ट होती है। दुर्भाग्य से मथुरा में विहार का भी कोई नमूना नहीं बचा है परन्तु इनकी रचना शैली तक्षशिला, सारनाथ, नालंदा आदि स्थानों में मिले हुए भग्नावशिष्ट विहारों के समान ही रही होगी।

कुषाण-काल (ई० सन् के प्रारंभ से लगभग २०० ई० तक) में मथुरा में स्तूपों तथा विहारों के निर्माण में सबसे अधिक वृद्धि हुई।

(ख) हिन्दुओं के मन्दिर —

मन्दिरों का उद्भव तथा विकास स्तूपों से भिन्न रूप में और सम्भवतः उनसे पहले हुआ। स्तूप तीर्थंकरों या भिक्षुओं की समाधि स्वरूप होते थे, परन्तु मन्दिर देवता के निवास-स्थान होते थे, इसी से उन्हें देवालय कहा गया है। मन्दिर में एक या अनेक देवों की मूर्तियों का होना तथा उनका पूजा जाना अनिवार्य था। मन्दिरों की रचना भी स्तूप से पृथक थी। शिखर-शैली का होना मन्दिर का निजत्व है जो सुमेरु, त्रिकूट, कैलास आदि पर्वतों से लिया गया है। मन्दिर के बाह्य अलंकरण में देव, यक्ष, किन्नरादि प्रदर्शित होते थे।

जैनों तथा बौद्धों के स्तूपों के ईसा से कई शताब्दी पहले मथुरा में बनने के प्रमाण मिलते हैं। पर मथुरा में हिन्दुओं के सबसे प्राचीन मन्दिर का जो उल्लेख मिला है वह राजा षोडास के राज्य-काल (८० ई० पू०) का है। इससे पता चलता है कि ८० ई० पू० में वासुदेव कृष्ण का चतुःशाला मन्दिर, तोरण व वेदिका सम्भवत भगवान कृष्ण के जन्मस्थान (वर्तमान कटरा केशवदेव) में बने थे। इसमें सन्देह नहीं कि इसके बहुत पहले भी यहाँ भगवान-कृष्ण के मन्दिर थे। कुषाणों के राज्य-काल में अधिकांश बौद्ध तथा जैन स्तूप, मठ आदि बने। यद्यपि इस काल की अनेक हिन्दू मूर्तियों, यूप, स्तंभ आदि प्राप्त हुए हैं, तथापि किसी मन्दिर के निर्माण का उल्लेख नहीं मिला। गुप्तवंशी शासक वैष्णव थे। उनके काल की बनी हुई अनेक वैदिक धर्म संबंधी देवी देवताओं की मूर्तियाँ मथुरा से प्राप्त हुई हैं। गुप्तों के राज्यकाल में ब्रज में अनेक मन्दिर बने होंगे जिनका इस समय पता नहीं चलता। मध्यकाल में मन्दिर अधिक संख्या में बने, जैसा कि तत्कालीन मन्दिरों के अवशेषों से पता चलता है। महा-

यन का मंदिर भी इसी काल में बना। १२ वीं शताब्दी में मथुरा में अनेक बड़े मंदिर थे। जिनका विध्वंश मुसलमान आक्रांताओं ने कर दिया। उनकी धार्मिक नीति के फलस्वरूप मंदिरों का निर्माण रुक गया। केवल १६वीं शताब्दी में हम अकबर के द्वारा वृन्दावन में मंदिर निर्माण करने की अनुमति पाते हैं। उस काल के चार मंदिर अब भी विद्यमान् हैं।

(ग) स्थापत्य की अन्य कृतियाँ—

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मथुरा स्थापत्य का कोई भी समूचा उदाहरण नहीं बच पाया, जिससे हम प्राचीन नगरों, प्रासादों, घरों, विद्यालयों आदि की निर्माण शैली का सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं। केवल कुछ उपलब्ध इमारती पत्थरों के द्वारा हम थोड़ी बहुत जानकारी पा सके हैं और वह भी प्रायः मथुरा नगर तथा उसके प्रासादों के सम्बन्ध में। ये प्रासाद या हर्म्य कई तलों के होते थे। जिनपर चढ़ने के लिये सोपानमार्ग (जीने) होते थे। जीने के किनारों (पार्श्व) पर वेदिका स्तंभ लगे रहते थे। हर्म्य में स्नानागार, भोजन-गृह, शयन-गृह, शृङ्गार-गृह, अन्तःपुर आदि पृथक-पृथक होते थे। ऊपर यथास्थान गवाक्ष होते थे, जिनसे स्त्री-पुरुष नीचे होने वाले उत्सवों आदि को झाँकते थे। कुछ मकानों में पक्के फर्श भी होते थे, पर बहुत कम। ऐसे फर्श अब तक केवल एक स्थान (बाजना ग्राम) से मिले हैं।

मकानों में जो चौखट, द्वार, बाजू, खंभे, धन्नी आदि लगते थे उन्हें कमल, मंगल-घट कीर्तिमुख, विविध प्रकार के देवी-देवताओं, यक्ष, किन्नर तथा पशु-पक्षियों की कृतियों से अलंकृत किया जाता था। ईंट की बनी हुई इमारतों पर, जिनकी संख्या मथुरा में बहुत बड़ी थी विभिन्न भाँति की चित्रित ईंटें बाहर की ओर लगाई जाती थीं। नगर के चारों ओर संभवतः मिट्टी की दीवार थी, जिसके भग्नावशेष अब भी मिलते हैं। इस दीवाल में चारों दिशाओं में एक-एक द्वार (गोपुर) रहा होगा। ऐसा गोपुर शुंगकालीन एक शिलापट्ट पर चित्रित है।

ग्राम-निवासी जनसाधारण के मकानों की रचना के विषय में हम प्रमाण के साथ नहीं कह सकते, पर इतना कहा जा सकता है कि वे

अधिकांश में कच्चे होते रहे होंगे। पर उनकी निर्माण-शैली में तथा उनके अलंकरण में कला का काफी ध्यान रखा जाता रहा होगा। मथुरा नगर से दूर ब्रज के गाँवों से जो कलात्मक कृतियाँ प्राप्त हुई हैं और प्राप्त होती जा रही हैं उनमें प्राचीन कलापूर्ण लोक-जीवन की झलक मिलती है। नगर तथा ग्राम जीवन से दूर आश्रमों में रहने वाले साधु-मुनियों की पर्णकुटियों के भी दो नमूने हमें प्राप्त हुए हैं, जिनसे उन पाठशालाओं के कलापूर्ण निर्माण का परिचय मिलता है। इनमें नीचे शमी या बाँस आदि के मजबूत स्तंभ लगा कर उन्हें ऊपर से कुश, काश तथा पत्तों द्वारा आच्छादित करते थे।

(घ) मुगलकालीन स्थापत्य—

मुगलकालीन स्थापत्य के कुछ नमूने ब्रज में बच पाये हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) मथुरा का सती बुर्ज—

यह ५५ फीट ऊँचा एक चौखंडा बुर्ज है। जयपुर के राजा बिहारमल की रानी इस स्थान पर सती हुई थी। उनके लड़के राजा भगवानदास ने अपनी माता की स्मृति रूप में सन् १५७० में इसे निर्माण करवाया। इसका शिखर पहले काफी ऊँचा था, पर औरंगजेब ने उसे तुड़वा दिया।

(२) गोविंददेव का मंदिर, वृन्दावन—

वृन्दावन के प्राचीन मंदिरों में निर्माण-कला की दृष्टि से यह मंदिर सर्वश्रेष्ठ है। कहा जाता है कि सम्राट अकबर वृन्दावन आने पर यहाँ के स्थान देख बड़े संतुष्ट हुए और उन्होंने यहाँ गोविंददेव आदि चार मंदिर बनवाने की अनुमति दी। इस कार्य में उन्होंने राजकीय-कोष से भी सहायता दी। गोविन्देव के मंदिर का निर्माण कछवाहा नरेश मानसिंह ने अपने दोनों गुरु श्री रूप और सनातन के आदेश से करवाया था। यह मंदिर ९२ फुट ऊँची कुर्सी के ऊपर बना है और इसका विस्तार २००×१२० फुट है। औरंगजेब ने ऊपर की बुर्जें तुड़वादी थीं, पर नीचे का मन्दिर-भाग मजबूत होने के कारण नहीं टूट सका।

(३) मदनमोहन का मंदिर—

यह शिखराकार मंदिर कालीदह घाट के पास है। इसकी भी

निर्माण-शैली सुन्दर है। इससे एक विशेषता यह है कि इसके ऊपर का आमलक अब तक सुरक्षित है।

(४) गोपीनाथ का मन्दिर—

मदनमोहन के मंदिर से इसकी बनावट बहुत मिलती-जुलती है।

(५) जुगलकिशोर मन्दिर (केशीघाट के पास)—

यह मंदिर अन्य प्राचीन मंदिरों की अपेक्षा अब अच्छी स्थिति पर है। इसका भी शीर्ष (आमलक) सुरक्षित है। इस मंदिर का निर्माण १६२७ ई० मे हुआ।

(६) हरदेव मन्दिर, गोवर्धन—

यह मंदिर भी कछवाहा राजा जयसिंह के द्वारा बनवाया गया और सोलहवीं शताब्दी के स्थापत्य का अच्छा नमूना है।

उपर्युक्त सती बुर्ज तथा पाँचो मन्दिर लाल पत्थर के बने हुए हैं। इनकी रचना-शैली हिन्दू स्थापत्य का सुन्दर उदाहरण है, यद्यपि कहीं-कहीं मुगल स्थापत्य का भी सम्मिश्रण पाया जाता है, जो स्वाभाविक था।

(७) छठी पालना या चौरासी मंदिर, महावन—

यह मंदिर महावन के पूर्वी किनारे पर है। वास्तव मे महावन ही प्राचीन गोकुल है। जिस स्थान पर यह मंदिर है वहाँ से उत्तर मध्यकालीन अनेक मूर्तियाँ तथा शिलापट्ट मिले हैं। इससे ज्ञात होता है कि लगभग आठवीं शताब्दी मे यहाँ एक विशाल मंदिर बना था। उसके गिर जाने पर उसके प्राचीन खंभो का सहारा देकर वर्तमान इमारत औरंगजेब के समय मे बनाई गई। प्रायः सभी खंभो पर सुन्दरता-पूर्वक, कमल, मंगलघट, कीर्ति मुख आदि आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।

(८) अन्य इमारतें—

अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी मे अनेक सुन्दर और विशाल मंदिरों, हवेलियो तथा छतरियो की रचना हुई। इनके मथुरा, वृन्दावन कामवन आदि के मंदिर तथा घाट, मथुरा, डीग, भरतपुर आदि की हवेलियाँ तथा महल और गोवर्धन, डीग की छतरियाँ उल्लेखनीय हैं।

ये इमारतें तत्कालीन व्रज में प्रचलित राजपूत-स्थापत्य कला का सुन्दर उदाहरण हैं।

(२) मूर्तिकला—भारतीय विचारधारा में सगुणरूप को विशेष महत्त्व दिया गया है। भगवान् कृष्ण की लीला भूमि होने के कारण व्रज में उनके तथा अन्य देवताओं के साकार रूप की उपासना और भी युक्ति सगत थी। मथुरा में मूर्तिकला का प्रारम्भ स्पष्ट रूप से ई० पू० चौथी शताब्दी से मिलता है और उसका विकास बारहवीं शताब्दी तक बराबर चलता है। लगभग १६ शताब्दियों के इस दीर्घकाल में मथुरा की मूर्ति-कला ने असाधारण उन्नति की। जैन, बौद्ध तथा हिन्दू तीनों धर्मों ने व्रज की पावन भूमि में आश्रय-पाया और तीनो को यहाँ अपनी कला एवं धर्म के विस्तारार्थ सुगम साधन प्राप्त हुए। यहाँ के कलाविदों ने प्रत्येक धर्म से सम्बन्धित मूर्तियों की कलापूर्ण रचना कर अध्यात्म तथा सौन्दर्य का अपूर्व सामञ्जस्य किया। मूर्तिरूप में भगवान बुद्ध का पूजन मथुरा से ही प्रारम्भ हुआ। हिन्दू-धर्म के अनेक देवताओं की मूर्तियाँ सबसे पहले मथुरा के कारीगरों ने ही निर्मित कीं। इसी प्रकार जैन तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं का निर्माण भी सम्भवत यहीं से प्रारम्भ हुआ। पाषाण तथा मृत्तिका पर उत्कीर्ण विविध भाँति की सहस्रों मूर्तियाँ मिली हैं जिनम से अधिकांश कुषाण-काल की हैं। ऐसा मालूम होता है कि कुषाण काल में मथुरा प्रदेश मूर्ति-निर्माण का एक बड़ा आलय और विविध धर्मों की मूर्तियों का अक्षय भण्डार था।

मथुरा में अधिकांश लाल पत्थर की मूर्तियाँ मिली हैं जो यहाँ के निकटवर्ती फतहपुरसीकरी तथा भरतपुर में अनेक स्थानों की खानों से मिलता है और मूर्ति गढ़ने मे बड़ा मुलायम होता है। इसके अतिरिक्त यहाँ पीतल, काँसे, ताँबे आदि की भी मूर्तियाँ मिलती हैं और एक बड़ी संख्या में मिट्टी की मूर्तियाँ बर्तन आदि मिले हैं। साथ ही अनेक प्रकार की बेलबूटों से युक्त ईंटें भी प्राप्त हुई हैं।

(अ) जैन मूर्ति कला—

जैन धर्म का मथुरा म सबसे धा केन्द्र शहर के पश्चिम में स्थित कंकाली टीला था। यहाँ सन् १८८८ से १८९१ तक की खुदाई में लगभग एक सहस्र मूर्तियाँ निकली थीं जो सभी लखनऊ संग्रहालय में

हैं। कंकाली टीलेके अतिरिक्त व्रज के अन्य स्थानों से भी अच्छी संख्या में जैन मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। ये तीन भागों में विभक्त की जा सकती है—

(१ तीर्थङ्कर मूर्तियाँ—

जैनों के देवता तीर्थङ्कर या जिन कहाते हैं। ये संख्या में चौबीस हैं। मथुरा कला मे शुंगकाल से लेकर मध्यकाल के अन्त (लगभग १२०० ई०) तक ये मूर्तियाँ मिली है, मुख्यतया आदिनाथ, नेमिनाथ पार्श्वनाथ तथा महावीर की। ये मूर्तियाँ अधिकांश में ध्यानमुद्रा मे रहती हैं ; कुछ सीधी खड़ी हुई भी। कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं जिनमें चारो दिशाओं में से प्रत्येक पर एक-एक तीर्थंकर की मूर्ति है। ऐसी प्रतिमाओ को सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ कहते हैं। मथुरा संग्रहालय में बी० १; बी० ६७, बी० ६८ तथा बी० ४ विशेष दर्शनीय हैं।

(२) देवियों की मूर्तियाँ—

तीर्थंकरो की मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ जैन देवियो की भी मूर्तियाँ मिली हैं, जो या तो गुप्तकाल की है या मध्यकाल की। इनमें नेमिनाथ की यक्षिणी अंबिका (डी० ७) तथा ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी (डी० ६) की मूर्तियाँ उल्लेखनीय है।

(३) आयागपट्ट आदि—

आयागपट्ट वर्गाकार शिलापट्ट होते थे जो पूजा मे प्रयुक्त होते थे और जिनके ऊपर तीर्थङ्कर, स्तूप, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि पूजनीय चिह्न बने रहते थे। मथुरा संग्राहालय में (नं० क्यू० २) एक सुन्दर आयागपट्ट है, जिसे, उस पर लिखे हुए लेख के अनुसार, वसु नाम की एक वेश्या ने दान में दिया था। इस आयागपट्ट पर एक विशाल स्तूप तथा वेदिकाओं सहित तोरण-द्वार बना हुआ है। लखनऊ संग्रहालय मे आयागपट्टों के कई सुन्दर उदाहरण (नं० जे० २४८, २४९, २५०) रखे है। आयागपट्टों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार के शिलापट्ट (सिरदल, वेदिकास्तंभ) आदि मिले हैं जिन पर जैन-धर्म संम्बन्धी मूर्तियाँ तथा चिन्ह हैं। तीर्थङ्कर मूर्तियों को छोड़ कर अलंकरण के उपकरण हैं यक्ष, यक्षी कमलादि पुष्प, अशोक-चंपकादि वृक्ष, मीन, मकर, गज, सिंह, वृषभ आदि जंतु-जानवर, मंगलघट,

कीतिमुख आदि। ये प्राय वही हैं जो बौद्धकला में तथा बहुत कुछ हिन्दू कला में पाये जाते हैं।

(आ) बौद्ध मूर्तिकला—यद्यपि भगवान् बुद्ध का पूजन मौर्य काल में ही प्रारम्भ हो चुका था, तथापि वह उनके चिन्हों की पूजा तक ही सीमित था। भगवान बुद्ध की मूर्ति का निर्माण उस काल में नहीं हुआ था। लगभग शुंग काल के अन्त तक हम यही दशा पाते हैं। साँची, भरहुत, बोधगया आदि स्थानों से बौद्धधर्म से सबंधित जितनी भी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उन पर बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप हाथी आदि का ही पूजन दिखाया गया है, मूर्तरूप में भगवान बुद्ध का पूजन कहीं नहीं। मथुरा से भी जो प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं उन पर इन चिन्हों के साथ बुद्ध के भिक्षापात्र तथा उष्णीष (म० सग्र०, न० आई १) का पूजन मिलता है। मथुरा में हिन्दुओं के बलराम आदि देवों की मूर्तियाँ कम से कम शुंग काल से पाई जाने लगती हैं। बौद्धधर्मानुयायियों में भी अपने देव को मूर्ति रूप में देखने की उमंग का उठना स्वाभाविक था। इधर कुषाण शासक भी मूर्ति निर्माण के प्रेमी थे ही। अतएव हम कुषाण काल के आरम्भ में मथुरा के तक्षकों द्वारा सर्व प्रथम भगवान् बुद्ध की मूर्ति विशाल काय रूप में निर्मित पाते हैं। इस प्रकार मथुरा की कला में ही हमें मूर्तिरूप में बुद्ध का सर्व-प्रथम दर्शन होता है। बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की ये प्रारंभिक मूर्तियाँ परखम यक्ष की कला-शैली से प्रभावित मिलती हैं। कला के विकास के साथ इन मूर्तियों का निर्माण अधिक सुन्दर तथा अलकृत होने लगा। और गुप्त काल में हम बुद्ध मूर्ति को दिव्य सौंदर्य तथा आध्यात्मिक गाम्भीर्य के कलापूर्ण सम्मिश्रण के रूप में अभिव्यक्त पाते हैं।

गंधार कला—जब मथुरा में बुद्ध तथा बोधिसत्व प्रतिमाओं का निर्माण प्रारंभ हो गया तब गंधार प्रदेश के तत्कालीन यूनानी शासकों द्वारा भी इस ओर ध्यान दिया गया और तद्देशीय यूनानी कला में, जिसे 'गंधार कला' कहते हैं मूर्तियों की रचना की गई। यद्यपि गंधार कला के भी वर्ण्य विषय वही थे जो मथुरा कला के तो भी एक विदेशी कला-शैली में वह सौंदर्य ओज तथा तन्मयता का भाव नहीं लाया जा सका जो बुद्ध मूर्तियों के लिए अपेक्षित था। कुछ विदेशी

विद्वान् मथुराकला पर गंधारकला के प्रभावकी बात भी बड़ी दूर तक ले जाते है। यद्यपि मथुराकला की कुछ कृतियों पर गंधारकला की छाप दिखाई देती है, पर इन गिनी-चुनी प्रतिमाओं के आधार पर जो विशेषतः तत्कालीन कुषाण शासकों के कारण (जिनके साम्राज्य में गंधार भी शामिल हो गया था) पाई जाती है, यह कहना कि मथुरा कला गंधारकला से काफी प्रभावान्वित हुई युक्ति संगत नहीं। वास्तव में मथुराकला का स्वतंत्र उद्भव तथा विकास है, जिसका स्रोत साँची तथा भारहुत की भारतीय कला मे मिलता है न कि उस गंधारकला में जिसका प्रारंभ मथुराकला के प्रारंभ होने के कई शताब्दियों बाद पाया जाता है।

बुद्ध तथा बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ — ज्ञान या संबोधि प्राप्त होने के पहले बुद्ध की संज्ञा 'बोधिसत्व' थी, और उसके बाद 'बुद्ध'। इन दोनों मे अंतर यह है कि बोधिसत्व को मुकुट आदि विविध आभूषणों से अलंकृत राज-वेष मे दिखाया जाता है, पर बुद्ध को इन से रहित केवल वस्त्र (चीवर) धारण किये हुए। बुद्ध के सिर पर बालों का जटा-जूट (उष्णीष) रहता है जो उनके बुद्धत्व या ज्ञानसंपन्न होने का सूचक है। दोनों प्रकार की मूर्तियाँ मथुरा मे या तो खड़ी मिलती हैं या पद्मासन मे बैठी हुई, विशेषतः कुषाण-काल में। पर गुप्तकालीन मूर्तियाँ अधिकांश खड़ी मिलती है। मथुरा संग्रहालय की उत्कृष्ट प्रतिमाएँ नं० ए१, ए२, ए५, ए४०, तथा नं० २७६८ हैं।

मुद्राएँ—बोधिसत्व तथा बुद्ध प्रतिमाएँ हाथों के द्वारा अनेक भावों को व्यक्त करती पाई जाती हैं। इन भाव विशेषों को मुद्रा कहते हैं। मथुरा-कला मे निम्न लिखित चार मुद्राएँ मिलती हैं:—

(१) **ध्यानमुद्रा**—इसमे बोधिसत्व या बुद्ध पद्मासन में बैठे हुए तथा एक हाथ के ऊपर दूसरा रखे हुए दिखाये जाते हैं।

(२) **अभय मुद्रा**—इसमे वे दाएँ हाथ को उठा कर उसे कंधे की की ओर मोड़ कर श्रोताओ या दर्शकों को अभय-प्रदान करते हुए दिखाये जाते हैं।

(३) **भूमिस्पर्श-मुद्रा**— इसमें ध्यानावस्थित बुद्ध दाएँ हाथ से भूमि को छूते हुए प्रदर्शित किये जाते हैं। जब बोधगया में उनके तप

को नष्ट करने का प्रयत्न कामदेव द्वारा किया गया तब उन्होंने इस बात की साक्षी देने के लिए कि उनके मन में कोई भी काम-विकार नहीं पृथ्वी को स्पर्श कर उसका आह्वान किया था, जिसे उक्त मुद्रा द्वारा व्यक्त किया जाता है।

(४) धर्म चक्र प्रवर्तन मुद्रा—इसमें भगवान् बाएँ हाथ की उँगलियों के ऊपर दाएँ हाथ की उँगलियों को इस प्रकार रखते हैं मानों वे चक्र घुमा रहे हों। यह दृश्य सारनाथ में उनके द्वारा बौद्ध-धर्म के सर्व-प्रथम उपदेश को सूचित करता है, जिसके द्वारा उन्होंने संसार में एक नये धर्म का प्रवर्तन किया।

इनके अतिरिक्त एक 'वरद मुद्रा' भी है जो मथुरा में नहीं मिलती। इसमें भगवान् का दायाँ हाथ हथेली को सामने किये हुए नीचे लटकता है, मानो वे वरदान दे रहे हों।

बुद्ध के जीवन की घटनाएँ—बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्तियों के अतिरिक्त उनके जीवन की घटनाएँ भी अनेक शिलापट्टों पर चित्रित मिलती हैं, इन्हें जातक कहते हैं। बौद्धधर्म के अनुसार बुद्ध होने के पहले भगवान् कई योनियों में विचरे। उन्हीं पूर्वजन्मों की कहानियाँ जातक कथाएँ हैं। मथुरा में इस प्रकार के दृश्यों वाले कई पट्ट हैं। (देखिए आई ४)। पूर्वजन्म की घटनाओं के अतिरिक्त गौतम बुद्ध के वर्तमान जीवन की घटनाएँ—उनका जन्म, ज्ञान प्राप्ति, धर्म-चक्र प्रवर्त्तन, परिनिर्वाण इत्यादि भी मथुराकला में चित्रित मिलती हैं। (नं० एच० १, एच० ११ आदि)

(६) वेदिकास्तंभों पर की मूर्तियाँ स्तूपों का वर्णन करते समय वेदिकास्तंभों का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ उन पर उत्कीर्ण मूर्तियों का वर्णन किया जायगा। इन स्तंभों पर अधिकांश में यक्षियों के चित्रण हैं। मुक्ताग्रथित केश-पाश, कर्णकुण्डल, मौक्तिक एकावली तथा गुच्छक हार, केयूर, कटक, मेखला, नूपुर आदि धारण किये हुए ये स्त्रियाँ विविध आकर्षक मुद्राओं में दिखाई गई हैं। कहीं कोई युवती उद्यान में फूल चुन रही है, कोई कोई कंदुक-क्रीड़ा में लग्न है (जे० ६१), अशोक वृक्ष को ताडित कर उसे पुष्पित कर रही है (नं २३२४), या निर्झर में स्नान कर रही है अथवा स्नानोपरांत तन

ढक रही है (जे० ४), किसी के हाथ में वीणा (जे० ६२) और किसी के वंशी है तो कोई प्रमदा नृत्य मे तल्लीन है। कोई सुन्दरी स्नानागार से निकलती हुई अपने बाल निचोड़ रही है, और नीचे हंस उन पानी की बूँदों को मोती समझ कर अपनी चोंच खोले खड़ा है (नं० १५०६)। किसी स्तंभ (जे० ५) पर वेणी-प्रसाधन का दृश्य है, किसी में संगीतोत्सव का और किसी पर मधुपान का (नं० १५१)। इस प्रकार सैकड़ों मनोरंजक दृश्य इन स्तंभों पर चित्रित हैं। कुछ भगवान् बुद्ध तथा उनके धर्म से संबंधित विभिन्न जातक कहानियों के (नं० जे० ४ का पृष्ठ भाग) और कुछ पर महाभारत आदि के (नं०१५१) दृश्य भी हैं। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पशु-पक्षी, लता-फूल आदि भी इन स्तंभों पर उत्कीर्ण किये गये हैं। इन वेदिकास्तंभों को शृंगार और सौंदर्य के जीते-जागते रूप कहना चाहिए जिन पर कलाकारों ने प्रकृति तथा मानव-जगत् की सौंदर्य-राशि ला कर उपस्थित कर दी है।

(ई) यक्ष किन्नर आदि की मूर्तियाँ—मथुराकला में यक्ष, किन्नर, गंधर्व, सुपर्ण आदि की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। ये सुख-समृद्धि, संगीत तथा विलास के अधिष्ठाता थे। यक्षों की प्रतिमाएँ सबसे अधिक मिली है। इनमे सब से महत्वपूर्ण परखम नामक गाँव से प्राप्त तृतीय श० ई० पू० की विशालकाय मूर्ति (सी० १) है। ऐसी कई प्रतिमाएँ मथुरा से प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ कोरकर बनाई जाती थीं जिससे उनका दर्शन चारों ओर से हो सके। शुंगकाल के अंत में तथा कुषाण-काल मे ऐसी ही मूर्तियों के आधार पर विशालकाय बोधिसत्व की खड़ी हुई मूर्तियाँ गढ़ी गईं।

यक्षों मे कुबेर तथा उसकी स्त्री हारीती का स्थान बड़े महत्त्व का है। और इनकी अनेक मूर्तियाँ मथुरा में प्राप्त हुई हैं। कुबेर धन के देवता माने गये है और बौद्ध, जैन तथा हिन्दू तीनो धर्मों मे इनका पूजन मिलता है। कुबेर जीवन के आनंदमय रूप के द्योतक हैं और इसी रूप में इनकी अधिकांश मूर्तियाँ मिली हैं। संग्रहालय मे (सी० २, सी० ५ तथा सी ३१) नंबर की कुबेर की उल्लेखनीय मूर्तियाँ हैं, जिनमे वे सुरापान करते हुए चित्रित किये गये हैं। इनके हाथों मे सुरापात्र बिजौरा नीबू तथा रत्नों की थैली या नेवला रहता है। हाल में उत्तरकुषाणकाल की कुबेर की एक सुन्दर अभिलिखित मूर्ति प्राप्त

हुई है (नं० ३२३२)। कुबेर के साथ उसकी स्त्री हारीती की भी मूर्ति मिलती है। यह प्रसव की अधिष्ठात्री देवी मानी गई है और कला में इसका चित्रण बच्चों को साथ लिए हुए मिलता है।

मथुराकला में यक्षियों का बहुत चित्रण मिलता है। इसके विषय में पिछले पृष्ठ में लिखा जा चुका है। इनके अतिरिक्त पूजन या विविध क्रीडाओं में सलग्न किन्नर, गंधर्व, सुपर्ण, विद्याधर आदि भी चित्रित किये गये हैं।

(उ) नाग मूर्तियाँ—यक्षों आदि के समान प्राचीन मथुरा में नागों की पूजा मिलती है। इनका भी सम्बन्ध तीनों धर्मों से पाया जाता है। भगवान कृष्ण के भाई बलराम को शेषनाग का अवतार माना जाता है। विष्णु की शय्या भी अनन्त नागों की बनी हुई कही गई है। जैनधर्म में नाग दो प्रधान तीर्थंकरों—पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्व के चिह्न हैं। बौद्धधर्म के अनुसार मुचुलिंद नामक नाग ने ही भगवान बुद्ध के ऊपर छाया की थी तथा नन्द और उपनन्द नागों ने उन्हें स्नान कराया था। रामग्राम स्तूप की रक्षा भी नागों द्वारा की गई थी (देखिए शिलापट्ट नं० आइ० ६)। इस प्रकार तीनों धर्मों में नागों का पूज्य स्थान है। नागों की मूर्तियाँ पुरुषाकार तथा सर्पाकार—दोनों में ही मिलती हैं। इनके अतिरिक्त बलराम की भी मूर्तियाँ मिलती हैं जिनके गले में वैजयती माला आदि आभूषण तथा हाथों में मुसल और वारुणीपात्र दिखाये जाते हैं। मथुरा-संग्रहालय में इस प्रकार की कुषाण तथा गुप्तकालीन कई सुन्दर मूर्तियाँ हैं (देखिए नं० सी० १४, सी० १६ तथा ४३८)। नाग की सबसे महत्वपूर्ण मूर्ति नं० सी० १३ है जो पौने आठ फुट ऊँची है। यह छड़गाँव नामक स्थान से प्राप्त हुई थी। नाग की कुण्डलियाँ बड़े ओजपूर्ण तथा गेंडदार ढङ्ग से दिखाई गई हैं। इस मूर्ति की पीठ पर खुदे हुए लेख से ज्ञात होता है कि यह महाराजाधिराज हुविष्क के राज्य के चालीसवें वर्ष (सन् ११८ ई०) में सेनहस्ती तथा भोणुक नामक दो मित्रों के द्वारा बनवाकर प्रतिष्ठापित की गई। भूमिनाग (नं० २११) तथा दधिकर्ण नाग (नं० १६-१०) की भी मूर्तियाँ मथुरा-संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। बलदेव में दाऊजी की प्रसिद्ध विशालकाय मूर्ति भी कुषाणकाल की महत्वपूर्ण कृतियों में है।

(७) हिंदूधर्म की मूर्तियाँ—हिन्दू मूर्ति-कला के विकास की दृष्टि से मथुरा का स्थान बड़े महत्व का है। यहीं सर्वप्रथम अनेक देवों की मूर्त-रचना की गई। पौराणिक देवों के मूर्ति-विज्ञान के अध्ययन के लिये यहाँ की कला में बड़ी सामग्री है। यहाँ विभिन्न देवताओं की मूर्तियों का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

ब्रह्मा— मथुरा संग्रहालय मे ब्रह्मा की कुषाणकालीन दो मूर्तियाँ हैं। इनमें सबसे दर्शनीय तथा अद्भुत मूर्ति नं० ३८२ है। भारतवर्ष में ब्रह्मा की यह मूर्ति सबसे प्राचीन है। इसमे तीन मुख एक सीध मे दिखाये गये हैं और चौथा बीच वाले सिर के पीछे। बौद्ध मूर्तियो की तरह इसमे भी छाया मण्डल तथा अभय मुद्रा दिखाए गये हैं। ब्रह्मा की मध्यकालीन मूर्तियाँ भी मथुरा से मिली हैं। इनमे महावन से प्राप्त डी० २२ संख्यक मूर्ति उल्लेखनीय है, जिसमे ब्रह्मा अपनी पत्नी सावित्री के साथ बैठे दिखाये गये हैं।

शिव—शिव की भी मूर्ति-पूजा का अति प्राचीन रूप मथुरा मे मिलता है। कुषाण शासकों मे विम कैडफाइसिस, वासुदेव आदि के सिक्कों पर नंदीसहित शिव की एक, तीन या पंचमुखी मूर्तियाँ मिलती हैं। कुषाण कालीन शिवलिंग की एक मूर्ति मथुरा से मिली है जिसकी पूजा करते हुए शक लोग दिखाये गये हैं (नं० २६६८)। मथुरा में मुख रूप मे भी शिव की उपासना बहुत प्रचलित थी। ऐसे कई सुन्दर कुषाण तथा गुप्तकालीन शिवलिंग प्राप्त हुए हैं। इनमे सबसे महत्वपूर्ण यह है जिसमें लिंग के साथ शिव की खड़ी हुई सम्पूर्ण मूर्ति दिखाई गई है। इसमे शिव की चार भुजाएँ हैं तथा वे ऊर्ध्वरेतस हैं। नं० २५२८ की मूर्ति गुप्तकालीन एकमुखी लिङ्ग तथा नं० ५१६ मूर्ति पञ्चमुखी लिंग के अच्छे उदाहरण है। उत्तरगुप्तकालीन की २०८४ संख्यक मूर्ति मे नन्दी के सहारे खड़े हुए शिव पार्वती पत्थर के दोनों ओर बड़ी सुन्दरता से उत्कीर्ण किये गये हैं। भगवान् शङ्कर के दाहिने हाथ मे, जो अभयमुद्रा मे है, एक नीलकमल है। नं० २५११ शिव-पार्वती की गुप्तकालीन मूर्त्ति है जिसमे वे कैलास पर्वतपर बैठे दिखाये गये हैं और रावण पर्वत को उठा रहा है। पर्वत का एक कोना उठ जाने से पार्वती की भयभीत मुद्रा तथा शिव का क्रुद्ध भाव दर्शनीय है। गुप्तकाल की अर्द्धनारीश्वर की

मूर्तियाँ भी मिली हैं (नं० ३६२, ७७२), जिनमें आधा अङ्ग शिव का और आधा पार्वती का दिखाया गया है।

विष्णु—विष्णु की भी कुषाणकालीन मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं, जो भारत में अन्यत्र नहीं प्राप्त होतीं। ६३२ नम्बर की चतुर्भुजी मूर्ति बड़े महत्व की है। इसका निर्माण कुषाणकालीन बोधिसत्वों से बहुत मिलता है। एक हाथ अभयमुद्रा में है और दूसरे में अमृतघट है। शेष दो हाथों में वे गदा तथा चक्र लिए हैं। इस प्रकार कुषाण काल में हम विष्णु के साथ केवल दो ही आयुध पाते हैं, बाद में शंख तथा पद्म और जुड़ गये। नं० २५२० मूर्ति विज्ञान की दृष्टि से बड़े महत्व का शिलापट्ट है जिस पर विष्णु के अर्द्धनारीश्वर रूप का चित्रण है। आधे भाग में विष्णु हैं तथा आधे में राजलक्ष्मी। नं० १०१० भगवान् विष्णु की विराट रूप वाली अष्टभुजी मूर्ति है। परन्तु सबसे अधिक उल्लेखनीय मूर्ति नं० ई० ६ है जो गुप्त-काल की है। इसमें ध्यान मुद्रा में चतुर्भुजी विष्णु दिखाये गये हैं। सिर पर अलङ्कृत किरीट मुकुट है। इसके अतिरिक्त वे कुण्डल, मुक्ताहार भुजबन्ध तथा वैजयन्ती आदि धारण किये हैं। उनके लहरदार वस्त्र बड़े रोचक ढंग से प्रदर्शित किये गये हैं। यह मूर्ति गुप्त-कालीन कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। मूर्ति के ऊपर एक छत्र है जो पूर्व विकसित कमलों तथा पत्र रचना से अलङ्कृत है। इस मूर्ति के अतिरिक्त २५२५ नं० की विष्णुमूर्ति भी गुप्त कला का सुन्दर तथा अनोखा उदाहरण है। यह नृसिंह-वराह विष्णु की मूर्ति है। बीच में भगवान विष्णु का मुख तथा अगल बगल नृसिंह तथा वराह अवतारों के मुख हैं। नं० २८८४ की मूर्ति भी ऐसी ही है, पर उसमें नृसिंह वराह विष्णु के अतिरिक्त भगवान के विराट रूप का दर्शन है, जिसमें अनेक देवता, नवग्रह आदि, दिखाये गये हैं। विष्णु की मिट्टी की भी कई सुन्दर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

कृष्ण बलराम — दुर्भाग्य की बात है कि भगवान कृष्ण की लीला भूमि ब्रज में उनकी बहुत कम मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उनके जीवन सम्बन्धी जो सबसे प्राचीन मूर्ति मिली है वह ई० दूसरी शताब्दी का एक शिलापट्ट (नं० १३४४) है। इस पर नवजात शिशु कृष्ण को एक सूप में धरकर वसुदेव गोकुल जाने के लिए जमुना पार करते

हुए दिखाए गये हैं। नदी का बोध धारीदार लकीरों तथा जल-जंतुओं के द्वारा बड़ी सुन्दरता के साथ कराया गया है। कृष्ण की मध्यकालीन (लग० ८ वीं श०) एक मूर्ति प्राप्त हुई है (सं० डी० ४७) जिसमें वे अपनी उँगली पर गोवर्धन पर्वत उठाए हुए चित्रित किये गये हैं। पर्वत के नीचे गौएँ तथा ग्वालबाल खड़े हैं।

बलराम की मूर्तियाँ अधिक मिली हैं। सबसे प्राचीन मूर्ति शुङ्ग-काल की है जिसमें वे हल तथा मूसल धारण किए दिखाए गये हैं। यह मूर्ति अब लखनऊ संग्रहालय में है (नं० जी० २१५)। बलराम की कुषाण तथा गुप्तकालीन अनेक मूर्तियाँ मिली हैं, जिनपर वे मुसलवासनीपात्र, पताका आदि लिए हुए अंकित किये गये हैं (नं० सी० १५, ४३५ तथा सी० १६)

स्वामिकार्तिक—शिव के पुत्र स्वामिकार्तिक की भी कई मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें उल्लेखनीय नं० २६२६ तथा नं० ३४७ हैं। पहली पर एक अभिलेख है जिससे पता चलता है कि वह सन् ८६ ई० में बनाई गई थी। इसमे दायाँ हाथ अभयमुद्रा मे किये हुए तथा बाएँ मे लंबा भाला लिए हुए वे दिखाये गए है। दूसरी मूर्ति में वे अपने वाहन मयूर पर चढ़े हुए अङ्कित किये गए हैं। स्वामिकार्तिक की एक बहुत सुन्दर गुप्तकालीन मृण्मूर्ति है (नं० २७६४) इसमे शक्ति धारण किए हुए कुमार मयूर पर बैठे हुए है। उनके मुखमण्डल से तेज की भावना टपकती है। ४६६ नं० की मूर्ति भी जिसमें उन्हें शिव तथा ब्रह्मा के द्वारा अभिषेक कराया जा रहा है दर्शनीय हैं।

गणेश—गणपति की कई मूर्तियाँ मथुरा-कला में प्राप्त हुई हैं। हाल मे संग्रहालय के लिए कुषाणकालीन विशाल गणपति की मूर्ति प्राप्त हुई हैं। मध्यकालीन मूर्तियों मे नं० २५२ की अष्टभुजी मूर्ति उल्लेखनीय है। इस पर बालगणेश लड्डू लिए हुए नृत्य कर रहे हैं।

इन्द्र—इन्द्र की प्राचीन मूर्तियाँ भी मथुरा-कला की ही देन हैं। कुषाण तथा गुप्त कालीन इन्द्र की मूर्तियाँ भारत मे दुर्लभ हैं। मथुरा संग्रहालय मे नं० ३६२ की इन्द्र-मूर्ति कला की अद्भुत तथा सुन्दर कृति है। यह कुषाण-काल के प्रारम्भ की है। इस पर हाथ मे वज्र लिए हुए इन्द्र खड़े हैं, तथा उनके दोनो कंधों से नाग मूर्तियाँ निकल रही

हैं। इन्द्रदेव के सिर पर सुन्दर किरीट मुकुट है। हाल में अभय मुद्रा में खड़े हुए इन्द्र की एक मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसमें उनका वाहन हाथी भी है।

कुबेर—कुबेर की पूजा मथुरा मे बहुत प्रचलित थी। इनकी मूर्तियाँ बड़ी संख्या में मिली हैं। हिन्दू-धर्म में इन्हें धन का देवता माना गया है। कुबेर की मूर्तियों का वर्णन पीछे यक्ष मूर्तियों में किया जा चुका है।

अग्नि।—भारतीय कला मे अग्नि की भी मूर्तियाँ बहुत कम प्राप्त होती हैं। मथुरा कला में अग्नि की दो सुन्दर प्रतिमायें मिली हैं। पहली (नं० २८८०) कुषाण-कालीन है और इसे अग्नि की सर्वप्रथम मूर्ति कहा जा सकता है। दूसरी (डी० ७४) मध्यकालीन है। दोनों में अग्निदेव के सिर के ऊपर ज्वालाएँ निकल रही हैं। दूसरी में उनका वाहन मेष (मेंढा) भी चित्रित है।

नवग्रह—नवग्रहों के अनेक शिलापट्ट मिले हैं। इनमें से राहु की एक अलग मूर्ति (नं० २८३६) मिली है। जिसमे वे तर्पण करते दिखाये गये हैं।

सूर्य—नवग्रहों में सूर्य का स्थान सबसे अधिक महत्व का है। मथुरा-कला में इनकी अनेक भाँति की मूर्तियाँ मिली हैं। सबसे प्राचीन प्रतिमाओं में वे शक राजाओं की वेषभूषा (उदीच्यवेष) में चित्रित मिलते हैं। नं० २६६ ऐसी ही मूर्ति है। सूर्य के दायें हाथ में कटार तथा बायें में कमल का गुच्छा है। वे दो घोड़ों के रथ पर बैठे हैं। बाद में क्रमश इन घोड़ों की संख्या ८ तथा ७ हो जाती है। ऐसी अनेक मूर्तियाँ मथुरा से मिली हैं। सूर्य की एक विचित्र मूर्ति सेलखड़ी पत्थर की बनी मिली है (नं० १२५६)। इस पर वे सासानी राजाओं की वेषभूषा में दिखाये गये हैं। नं ८८८ मूर्ति भी दर्शनीय है।

कामदेव—कामदेव की अनेक सुन्दर मूर्तियाँ पत्थर तथा मिट्टी पर मिली हैं। २६६१ नं० की मृण्मूर्ति पर धनुष तथा पंचबाण धारण किये आकर्षक रूप में उनका चित्रण मिलता है।

हनुमान—हनुमान की केवल एक ही मूर्ति (डी० २७) मिली है जो लगभग ६ वीं श० की है।

देवियों की मूर्तियाँ देवों के साथ ही या अलग उनकी शक्तिरूपा देवियों का भी निर्माण मथुरा की मूर्तिकला में पाया जाता है। लक्ष्मी (नं० २५२०), सरस्वती, दु॰ र्गा (नं० २०८४), महिषमर्दिनी (नं० ५४१), सिंहवाहिनी दुर्गा (नं० १७८३), सप्तमातृकाओं (नं० २८७२ तथा एफ ३८ आर १०४) तथा गङ्गा-यमुना (नं० १५०७ २६५६) आदि के अनेक कलापूर्ण चित्रण पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त मातृदेवियों की मौर्य तथा शुङ्गकालीन अनेक सुन्दर मृण्मूर्तियाँ मिली हैं (देखिए नं० १५६२, २२२२, २२४१ तथा २२४३) । ये मूर्तियाँ हाथ की बनी होते हुए भी बड़ी कलापूर्ण हैं।

(ऋ) शक-कुषाण राजाओं की मूर्तियाँ – मथुरा से शक-कुषाण राजाओं तथा शासक वर्ग की अनेक अत्यन्त महत्वपूर्ण मूर्तियाँ मिली हैं, जो भारत में अन्यत्र कहीं नहीं मिलीं। मथुरा से लगभग ८ मील दूर माट नामक स्थान से कुषाण राजाओं का एक देवकुल था, जहाँ से इन राजाओं की मूर्तियाँ मिली हैं।

(१) विम कैडफीसि स की मूर्ति (नं० २१५)—इस विशालकाय मूर्ति में जिसका सिर नहीं है, महाराज विम सिंहासनारूढ़ दिखाये गये हैं। वे लम्बा चोगा, गुलूबन्द, सलवारनुमा पायजामा तथा चमड़े के तसमों से कसे हुए मोटे जूते पहने हैं। मूर्ति पर राजा का नाम लिखा है।

(२) कनिष्क की प्रतिमा (नं० २१३)—कनिष्क कुषाण वंश का सबसे प्रतापी सम्राट था। इसकी यह मूर्ति खड़ी हुई मिली है। दुर्भाग्य से इसका भी सिर नहीं मिल सका। इस मूर्ति की वेषभूषा विम से बहुत मिलती जुलती है। उसके दायें हाथ में राजदंड तथा बायें में तलवार है। मोटे जूते जिन्हें गिलगिटी बूट कहते हैं, दर्शनीय हैं। इस मूर्ति पर भी राजा का नाम लिखा है।

(३) चष्टन की मूर्ति (नं० २१२)—चष्टन पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप-वंश का जन्मदाता था। इस मूर्ति की भी वेषभूषा उपर्युक्त मूर्तियों के समान है। इसका चोगा जरीदार है। तथा कमरबन्द भी अलंकृत है। इन मूर्तियों के अतिरिक्त उपर्युक्त वेषभूषा धारण किये हुए अनेक शक राजकुमारों तथा सर्दारों की भी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

(उ) गधार कला में शक महिषी की मूर्ति (न० एफ ४२)-

यह मूर्ति यमुना किनारे स्थित सप्तर्षि टीले से प्राप्त हुई थी और नीले सिलेटी पत्थर पर बनी है। यद्यपि यह 'गधार-कला' की कृति है जो मथुरा-कला से भिन्न है, तथापि मथुरा में इसका पाया जाना बडे महत्व का है। उसी स्थान से प्राप्त खरोष्ठी के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि मथुरा के महाक्षत्रप राजुल की महारानी कम्बोजिका ने यहाँ बौद्धों के अनेक स्तूप तथा विहार बनवाये। सभवत यह मूर्ति उसी महारानी की है।

(ऋ) अन्य विविध कृतियाँ—मथुरा-कला मे विविध धर्मों से संबधित अनेक प्रकार की मूर्तियों के मिलने के साथ ऐसी कृतियाँ भी मिली हैं—जिनका सबंध लोक-जीवन से है। ऐसी मूर्तियों मे मृण-मूर्तियों का स्थान बडे महत्व का है। यद्यपि मिट्टी की कुछ मूर्तियाँ देवी देवताओं—विशेषत हिन्दू धर्म के देवों—की मिली हैं, पर उनकी सख्या बहुत थोडी है। अधिकाश मिट्टियों की मूर्तियाँ नागरिक तथा साधारण लोक के जीवन पर प्रकाश डालती हैं। मथुरा-सग्रहालय मे इनकी सख्या बहुत अधिक है। ये अधिकतर टीलों में से तथा यमुना नदी से प्राप्त हुई हैं। इनके दो प्रकार हैं। एक तो वे जो मौर्य-काल के पहले या मौर्य-काल में विशेषत मातृदेवियों आदि की मूर्तियों के रूप मे हाथ मे गढकर बनाई गई और वे जो साँचों द्वारा निर्मित की गई थीं। दूसरे प्रकार की मूर्तियाँ शुगकाल से लेकर लगभग मध्यकाल तक पाई जाती हैं। ई० पू० २०० से लेकर ६०० ई० तक की मूर्तियों की सख्या सबसे अधिक है। इनमें से कुछ तो लडकों के खेलने के लिए बनती थीं—जैसे हाथी, घोडे, गाडी, आदि खिलौने। शेष मूर्तियाँ वे हैं जिनमें जीवन के के विविध अंगों का प्रदर्शन है जैसा कि हम पाषाण-कला पर पाते हैं। मथुरा-सग्रहालय की कुछ उल्लेखनीय मूर्तियाँ ये हैं—न० ७७ ४, जिस पर राजसी ठाठ में एक स्त्री पंखा लिए खड़ी है, न २८/३ जिस पर कोई राजकुमार रथ पर बैठ कर बाहर जा रहा है। न० २१२१, जिस पर स्त्री पुरुष का जोडा चित्रित है, न० २३४०, जिस पर किन्नर-किन्नरी हवा में उड़ान ले रहे हैं। न० ९६०१, जिस पर सुन्दर साडी पहने तथा बच्चे को गोद मे लिए एक स्त्री है, न० २४१२, जिस पर शुक-क्रीडा का चित्रण है, तथा न० २२२८ जिस पर सुन्दर

बालों से सज्जित पुरुष-सिर है।

उपर्युक्त मृण्मूर्तियों के अतिरिक्त मथुरा से नागरिकों, सेठों, धर्मवीरों तथा विदेशी लोगों के अनेक प्रकार के सिर मिले हैं। इस प्रकार के स्थानीय संग्रहालय में नं० २८२७, १५७, १५६८, २५६४, जी० ३४ तथा २१२२ संख्यक सिर कला की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं।

(५) मिट्टी की मूर्तियाँ—इसका उल्लेख ऊपर भी आ चुका है। मौर्य-काल से हाथ की बनी हुई मातृदेवी आदि की मूर्तियाँ मिलती हैं। साँचे का प्रयोग शुंगकाल से मिलता है। इस समय से लेकर लगभग ८ वीं श० तक की विविध भाँति की मृण्मूर्तियाँ मिलती हैं। यह कला साधारण लोक-कला को सूचित करती है, और लोक-जीवन के अध्ययन की काफी सामग्री उपस्थित करती है।

(२) ईंटें—ब्रज से मौर्य तथा शुंग-काल की कुछ ऐसी ईंटें मिली हैं जिन पर लेख हैं। गुप्त तथा मध्यकालीन मिट्टी की ईंटें काफी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। और उनमें से कुछ पर कमल आदि पुष्प बेल-बूटे तथा अनेक प्रकार के मांगलिक चिन्ह भी उत्कीर्ण मिलते हैं। कुछ पर देवों की मूर्तियाँ भी हैं। इस प्रकार की अलंकृत ईंटों का प्रयोग इमारतों के सामने के भाग पर होता था।

(३) मिट्टी के बर्तन आदि—मथुरा तथा उसके समीपस्थ प्रदेश से प्राचीन मिट्टी के बर्तन भी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं जिनमें घटकार की पुरानी कला का पता चलता है। साधुओं के बर्तन गृहस्थी के बर्तनों से भिन्न होते थे। बर्तनों के अतिरिक्त मिट्टी के तोलने के बॉट, बच्चों के खिलौने तथा कुम्हार के बर्तन बनाने वाले भी प्राप्त हुए हैं।

(४) धातु की मूर्तियाँ—धातु में पीतल तथा काँसे की अधिकांश मूर्तियाँ मिलती हैं जो अधिक प्राचीन नहीं हैं। प्रायः भगवान् कृष्ण के जीवन से संबंधित मूर्तियाँ, शिव-पार्वती, गणेश, विभिन्न अवतारों से चित्रित, पूजा-पात्र, आरती आदि वस्तुएँ मिलती हैं। जैन-बौद्ध धर्म संबंधी धातु की मूर्तियाँ मथुरा-कला में दुष्प्राप्य हैं।

माथुर कला का स्वर्ण युग—ई० सन् के प्रारम्भ से लेकर छठी

श० के अन्त तक का युग माथुर कला का 'स्वर्णयुग' कहा जा सकता है। इसमें भी इस युग का प्रथमार्घ (ई० ३०० तक) विशेष महत्व का है। इस काल के कुषाण शासकों को कला के सौन्दर्य-पक्ष ने अधिक आकृष्ट किया। मथुरा के कलाकारों ने अपने संरक्षकों की इस भावना का स्वागत किया और उसकी पूर्ति के लिये कला के शृङ्गार-पक्ष को उन्नत किया। कुषाणकाल के जो तोरण, वेदिका-स्तम्भ, सूची, आयाग-पट्ट आदि तथा मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं उन पर इसके जीते-जागते प्रमाण मिलते हैं। कलाकारों ने प्रकृति तथा मानव-जीवन—इन दोनों से कला के अलङ्करण की सामग्री को जिस खूबी से छाँटकर अपनी कृतियों पर उसका उपयोग किया है वह सचमुच सराहनीय है। कला के दिव्य आदर्शों से प्रेरित होकर उन्होंने सृष्टि की अनिंद्य रूप-सामग्री से अपनी रचनाएँ विभूषित कर उन्हें शाश्वत रूप प्रदान किया है। उत्फुल्ल कमल आदिक पुष्पों से सुशोभित जलाशय, नदी, पर्वत, झरने तथा अशोक, कदम्ब, नागकेशर, चम्पक, आदि पुष्पित वृक्ष, अनेक भाँति की लता-बेलें, पत्ररचनाएँ, एवं प्रकृति में सानन्द विचरण करने वाले पशु-पक्षी—ये सभी कलाकारों के द्वारा आवश्य-कतानुसार ग्रहण किये गये हैं। इन प्राकृतिक उपकरणों के साथ मानवी रूप का सामंजस्य करना भारतीय शिल्पियों और विशेष कर मथुरा के कलाविदों की एक अनोखी देन है। जिस प्रकार भारतीय साहित्य में संसार को पूर्ण रूप से समझने तथा जीवन का वास्तविक आनन्द प्राप्त करने के लिए प्रकृति को एक अनिवार्य भाग माना गया है उसी भाँति भारतीय कलाविदों ने भी अपने क्षेत्र में इस सत्य को चरितार्थ किया है। मथुरा की कला में वेदिका-स्तम्भों आदि पर हमें इसका सजीव चित्रण मिलता है—कहीं वनों में स्त्री पुरुषों द्वारा पुष्प-संचय किया जा रहा है, कहीं निर्झरों और जलाशयों में स्नान तथा क्रीडा के दृश्य, कहीं सुन्दरियों के द्वारा मंजरी, पुष्प या फल दिखा कर लुभाते हुए शुकादि पक्षियों का, कहीं उनके केशों में गुँथे हुए मुक्ताजालों अथवा उनकी दंत पंक्तियों के लोभी हंसों का और कहीं अशोक, चंपक, बकुल कदंब आदि वृक्षों की डालों थामे मदमातीं रमणियों के ललित अंग-विन्यासों का चित्रण है।

सौंदर्य के अनिवार्य साधन के रूप में नारी का चित्रण मथुरा

कला में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मथुरा के कलाकारों को शृंगार के स्वस्थ तथा उत्कृष्ट रूप का सुदर्शन अभीष्ट था, जिसके द्वारा लोक-रंजन के साथ-साथ समाज और धर्म को निष्क्रिय तथा निर्जीव होने से बचाया जा सके। उन्होंने इस स्पृहणीय उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिये नारी के श्री रूप को ग्रहणकर उसे भारतीय वेष-भूषा तथा अलंकारो से मंडित कर लोक के समक्ष रखा। मथुरा के वेदिका-स्तंभो पर विविध आभूषणो से अलंकृत सन्नतांगी रमणियों का झीने रेशमी वस्त्रों से झाँकता सुकुमार यौवन तथा सौंदर्य अंकित किया गया है। जो कलात्मक शृंगार के ज्वलंत उदाहरण रूप में सदैव के लिये अमर रहेगा।

कुषाण तथा गुप्तकाल मे नारी का समाज में उचित स्थान मिलता है। तत्कालीन कवि और कलाकार दोनों ने समाज की इस उदात्त भावना को आदृत किया। अश्वघोष, वात्स्यायन, कालिदास आदि की रचनाओं मे नारी के वैयक्तिक स्वातंत्र्य तथा समाज में उसकी उचित प्रतिष्ठा का उद्घोष है। तत्कालीन कला के क्षेत्र मे भी हमे जिस प्रकार देवों के साथ उनकी शक्ति रूपा देवियों का चित्रण मिलता है, उसी प्रकार संभ्रांतवर्ग तथा जन साधारण दंपति का भी। इस प्रकार धार्मिक तथा सामाजिक दोनो क्षेत्रों में हम सहधर्मिणी शब्द को वास्तविक रूप मे चरितार्थ किया पाते हैं। मथुरा से प्राप्त अनेक स्तंभों और शिलापट्टो पर धार्मिक यात्राओं, मधुपान, संगीत, तथा अन्य अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं और उत्सवो मे हम स्त्री-पुरुष को साथ-साथ भाग लेते हुए पाते है। स्त्रियों की स्वतंत्रता का तथा लोक के सौंदर्य-प्रेम का प्रमाण हमे उन कला-दृश्यो मे भी मिलता है जिनमे अनेक आकर्षक मुद्राओं मे कंदुक-क्रीड़ा अशोक-दोहद, पुष्प-चयन, वेणी प्रसाधन तथा वीणा-वंशी आदि वादन में रतनारियाँ अंकित की गई है। इनमे नग्न यक्षियों की भी मूर्तियाँ हैं। स्त्री के नग्न रूप-प्रदर्शन द्वारा कलाकार का उद्देश्य निम्न वासनाओं को उत्तेजित करने का नहीं था, किन्तु उसका अभिप्राय स्वस्थ सौंदर्य के सर्वांगपूर्ण व्यक्तिकरण से था। संसार को त्याग कर संन्यास ले लेने की जो प्रवृत्ति उपनिषद् काल से चली आ रही थी और जिसकी वृद्धि मे बौद्ध तथा जैन

ने योग दिया था, जिसके प्रवाह मे समाज का एक

बडा भाग वहने लगा था, उसे नियमित और सीमित करना हमारे आलोच्ययुगीन कवियों और कलाकारों का कर्तव्य था। उन्होंने उसका साहस के साथ निर्वाह किया। उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा जनता को यह समझाने का श्लाघ्य प्रयत्न किया कि यह लोक योंही त्याग देने की वस्तु नहीं है, इसमें प्रकृति तथा मानव द्वारा प्रदत्त आनन्द उचित मात्रा में उपयोग करने की वस्तु है, गृहस्थ धर्म का बिना पालन किये हुए सन्यास ले लेना मानव-जीवन की विडंबना है तथा इन्द्रियों के आनन्दमय विस्तृत जीवन का अनुभव करते हुए भी मनुष्य नीति और धर्म का पालन कर सकता है तथा मोक्ष या निर्वाण का अधिकारी हो सकता है। मथुरा के कलाकार अपने इस सदुद्योग में कृतकार्य हुए, उन्होंने धर्म को शुष्क और निर्जीव होने से बचा कर उसे आनंदमय लोकजीवन के साथ समन्वित किया, जिसके लिए वे शतमुखी सराहना के पात्र हैं।

मथुरा-कला की लोक-प्रियता—मथुरा की कला इतनी लोक-प्रिय हुई कि उसका प्रभाव भारत के अन्य प्रदेशों में शीघ्र फैल गया। कौशांबी (जिला इलाहाबाद), काशी, श्रावस्ती (सहेत-महेत, जिला गोंडा), पाटलिपुत्र (पटना), अमरावती (मद्रास प्रान्त के गुन्तूर जिले में) आदि में इस कला की बड़ी माँग हुई। इन स्थानों में मथुरा की शिला-कृतियों के अनेक नमूने मिलने से इसकी पुष्टि होती है। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि सारनाथ तथा श्रावस्ती में बुद्ध भगवान् की मूर्तियाँ बनवाने के लिए एक बौद्धभिक्षु ने मथुरा से कारीगर बुलवाए और उनके द्वारा सुन्दर मूर्तियों का निर्माण करवाया। बृहत्तर भारत तथा विदेशों में भी माथुर कला लोक प्रिय हुई।

शक, यवन, पह्लव आदि विदेशी लोग, जो यहाँ आए मथुरा की कला पर इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने इस कला के संवर्धन में आशातीत योग दिया। उनमें से अधिकांश यहां की कला और संस्कृति से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने भारतीय धर्म स्वीकार कर लिया और अपने नाम तक भी भारतीय रखने लगे,—वासुदेव, इन्द्राग्नि दत्त, सुनाम आदि। कुषाण सम्राट कनिष्क तथा उसके कई वंशज बौद्ध थे। उन्होंने इस धर्म के प्रचार में बड़ा भाग लिया। हुविष्क, विम कैडफाइसिस तथा वासुदेव के सिक्कों पर अनेक हिन्दू देवताओं की मूर्तियाँ मिलती हैं।

महाक्षत्रप शोडास तथा महाक्षत्रप राजुल की पत्नी कंबोजिका ने अनेक बौद्ध स्तूप तथा विहार बनवाए। मथुरा संग्रहालय में रखी हुई अनेक मूर्तियों पर विदेशी शक लोग बुद्ध, शिवादि की पूजा करते हुए दिखाए गये हैं।

प्राचीन मथुरा में कला की शिक्षा—मथुरा नगर विविध ललित कलाओं के शिक्षण का केन्द्र था जहाँ भारत के ख्याति-प्राप्त कलाविद् कलाओं की शिक्षा देते रहे होंगे। कौशांबी, काशी, श्रावस्ती, पाटलीपुत्र में तथा सुदूर दक्षिण के अमरावती प्रदेश तक मथुरा की कला-कृतियाँ प्राप्त होती हैं। जिनसे प्रतीत होता है कि इन स्थानों के विद्यार्थी माथुर कला की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए मथुरा के विद्यालय में आते रहे होंगे तथा यहाँ के कलावेत्ता उन-उन स्थानों में अपनी कलाओं के प्रसारार्थ जाते रहे होंगे। बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि तक्षशिला के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में वेद, वेदांग, षड्-दर्शन, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र तथा समरशास्त्र की उच्च शिक्षा के अतिरिक्त अठारह प्रकार के शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। ये शिल्प, कृषि, व्यापार, अश्वायुर्वेद, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, विविध उपांगों सहित संगीत, गरुड़विद्या, सूर्यविद्या, भूतविद्या, दैवविद्या, आदि थे। मथुरा में भी इन कलाओं में से अधिकांश की शिक्षा दी जाती रही होगी। अनेक प्रकार की मूर्तियों के अतिरिक्त भाँति-भाँति के मनोहर तोरण, द्वारस्तम्भ, वेदिकास्तम्भ, आदि जो उच्चकला के अमर उदाहरण हैं यह सूचित करते हैं कि इस उत्कृष्ट कला के अध्ययन अध्यापन का व्यवस्थित प्रबन्ध रहा होगा। कुषाण तथा गुप्त सम्राट् कला के बड़े प्रेमी थे, उन्होंने अवश्य इसके संवर्धन में कला विद्यालयों को साहाय्य तथा प्रोत्साहन दिया होगा। मथुरा के क्षत्रपों के यहाँ पुस्तकालयों के होने का पता चलता है जिनमें शिल्प-शास्त्र सम्बन्धी अनेक ग्रंथ रहते थे।

माथुर कला का विदेशों में प्रसार—माथुर कला का विस्तार भारत तक ही सीमित नहीं था, अपितु इस देश की सीमाओं को लांघ कर विदेशों में भी उसका प्रसार हुआ। अफगानिस्तान के बेग्राम (प्राचीन कपिशा) नामक स्थान में कुछ वर्ष पूर्व खुदाई से हाथीदाँत की निर्मित अनेक सुन्दर मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। इनके

देखने से पता चलता है कि इन पर मथुरा कला का स्पष्ट प्रभाव है।

मेसोपोटेमिया के उर नामक स्थान मे एक स्त्री मूर्ति का मनोहर सिर प्राप्त हुआ है जो अनेक अंशों में माथुर कला से प्रभावित है।

इसके अतिरिक्त पूर्वी देशों—अनाम, सुमात्रा, जावा आदि में गुप्तकालीन तथा मध्यकालीन अनेक हिन्दू मन्दिर तथा बड़ी संख्या में मूर्तियाँ मिलती हैं। जिनमें से अधिकांश पर मथुरा की कला का प्रभाव परिलक्षित होता है।

(३) ब्रज की चित्रकला

दुर्भाग्य से ब्रज की चित्रकला संबंधी बहुत कम सामग्री बच पाई है, जिससे इस कला के सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन नहीं किया जा सकता। प्राचीन चित्र कागज, कपड़ा, तालपत्र, चमड़ा, काठ या हाथीदाँत पर बने हुए मिलते हैं। ब्रज की चित्रकला अधिकांश में कागज या कपड़े पर है।

प्राचीन साहित्य में चित्रकला के उल्लेख—भारतीय प्राचीन साहित्य से निश्चित होता है कि चित्र या आलेखन कर्म प्रधान ललित कलाओं में से था। मुख्यत तीन प्रकार के चित्र बनते थे—

(१) भित्ति-चित्र - ये दीवारों पर बनाये जाते थे जैसे अजंता और बाघ गुफाओं के चित्र।

(२) चित्रपट—ये कपड़े पर और कभी-कभी चमड़े पर भी बनाये जाते थे। इन्हें दीवारों पर भी टाँग सकते थे।

(३) चित्रफलक—ये लकड़ी, हाथीदाँत आदि पर बनते थे। ई० ११ वीं श० के पहले के केवल भित्तिचित्र ही अब तक मिले हैं, चित्रफलक और चित्रपट नहीं।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में चित्र बनाने वाले के लिए 'चित्रकार' और 'चित्रकर' शब्द मिलते हैं। चित्रकार की कूँची के लिए 'तूलिका' और 'कूर्ची' नाम आते हैं—' स्त्रीतु चित्रकराणा स्यान कूर्ची लेखन साधने" (नानार्थार्णवकोष)। जिस कमरे या वीथी में चित्र प्रदर्शित किये जाते थे उसे 'चित्रवेश्म' कहते थे। इसके लिये दूसरे नाम 'चित्रशाला' तथा 'चित्रसद्म' भी साहित्य में बहुत मिलते हैं।

(३) अशोक दोहद का दृश्य (म० सं० जे० ५५) नर्तकी ने बाएँ पैर के घात द्वारा अशोक वृक्ष को पुष्पित कर दिया है। वह अशोक के एक फूल को दाएँ हाथ से पकड़ कर अपनी सफलता पर गर्वान्वित हो रही है। कालिदास ने इस सुन्दर भाव को निम्नश्लोक में व्यक्त किया है—

'एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी'

(मेघदूत, २, १८)

(४) असि नृत्य (लख० सं०, जे० २७५)—कदम्ब वृक्ष के नीचे खड़ी हुई नटी बाएँ हाथ में तलवार पकड़े है तथा दाएँ हाथ से कदम्ब की डाली को झुका कर उसके पुष्पों से अपने केशों को ग्रथित करने का अभिनय कर रही है। (कुषाणकाल)

(५) प्रेमोन्मत्ता का नृत्य (लख० सं०, बी० ६२)—शुक द्वारा अपने प्रेमी का मिलन समाचार पाकर सुन्दरी हर्षोन्मत्त होकर नृत्य कर रही है। कामदूत शुक उसकी नीवी को खोलकर उसे किसी आनंद का सन्देश दे रहा है। (कुषाणकाल)

(६) धर्म और संगीत (लख० सं० जे० २६८)—इस स्तंभ पर धर्म और संगीत का मनोहर सम्मिश्रण दिया गया है। ऊपर के पंडाल पर दंपति स्तंभ की प्रदक्षिणा दे रहे है, नीचे खपड़ैल के तले नृत्य हो रहा है। नृत्य मे ध्यान देने की बात है कि आभूषणों से सुसज्जित एक नर्तकी नृत्य कर रही है और दो खड़ी हुई स्त्रियाँ ताल दे रही है। नीचे बैठी हुई दो वनिताएँ ढोलक बजा रही हैं।

(कुषाणकाल)

(७) यात्रोत्सव (मथु० सं० नं० आई० ३८२)—प्रस्तुत शिलाखंड पर नगर द्वार से बाहर निकल कर गाते बजाते धर्म यात्रा में जाते हुए लोग दिखाए गये है। तीन व्यक्ति बड़े डफले बजा रहे है और बीच मे एक बालक शंख बजाता हुआ जा रहा है।

(प्र० श० ई० ५०)

(८) मथुरा संग्रहालय में—यात्रोत्सव का एक दूसरा दृश्य छोटे से पत्थर के टुकड़े पर चित्रित है, जो दुर्भाग्य से कुछ टूट भी गया है। इसमें एक पुरुष वीणा बजाते हुए चल रहा है उसके पीछे

वाला पुरुष वशी बजा रहा है। फिर हाथ जोडे एक स्त्री है और उसके पीछे दो बालक तथा एक पुरुष हाथ जोडे आ रहे हैं। लगभग ३६ शती।

(६) वीणावादिका (म० स०, जी० ७८)—इस पर ताडवृक्ष के नीचे एक पर्यंक पर बैठी हुई स्त्री वीणा पर तान दे रही है।

(१०) वशीवादिकाएँ (मथु० स०, एफ १७, १८ तथा २२)—(क) पुष्पित वृक्ष के नीचे खडी हुई विविध आभूषणों से सुसज्जित वनिताएँ वशी बजा रही हैं।

(११) न० ४०५ पर नृत्योत्सव में सलग्न कुटुम्बिनी स्त्रियों का चित्रण है।

(१२) इसी प्रकार शिलापट्ट न० ७७६ पर बाजे-गाजे समेत पूजनार्थ जाते हुए एक राजकुमार दिखाया गया है।

(१३) अन्तःपुर में सगीत—इस शिलापट्ट पर तीन महिलाएँ अकित हैं—दो मोढो पर आसीन हैं और तीसरी खडी है। मोढे पर बैठी हुई एक स्त्री सप्ततत्री (सात तारों वाली) वीणा बजा रही है और उसके सम्मुख बैठी हुई स्त्री कोई गाना गा रही है। दाहिने हाथ के द्वारा वह तान मिलाती हुई प्रतीत होती है। खडी हुई स्त्री वशी बजाने मे रत है।

(१४) पवाया मे प्राप्तमूर्ति पर सगीत का दृश्य—यह मूर्तिखड यद्यपि पवाया (प्राचीन पद्मावती, ग्वालियर) से मिला है, तथापि इस पर मथुरा कला का प्रभाव दिखाई देता है। शिलापट्ट के मध्य में एक युवती अत्यन्त सुन्दर भावभगी मे नृत्य कर रही है। उसके स्तनों पर एक लम्बा वस्त्र (कुचपट्टिका) बँधा हुआ है, जिसका एक छोर लटक रहा है। बाँए हाथ में पोहुँची से लेकर कुहनी तक चूडियाँ भरी हैं। दाहिने हाथ में एक या दो ही चूडियाँ हैं। नर्तकी कमर के नीचे एक अत्यन्त चुस्त धोती पहने है, जिस पर दोनों ओर किंकिणियों की झालरें लटक रही हैं। पैरो में सादे पतले कडे हैं। कानों में भूमरदार कर्णफूल हैं। इस नर्तकी के चारों ओर नौ स्त्रियाँ विविध वाद्य बजाती हुई दिखाई गई हैं, पर उनका प्रसाधन

इतनी बारीकी से नहीं दिखाया गया। ये वाद्य बजानेवाली स्त्रियाँ गद्दियो पर आसीन है। टूटे हुए बाएँ कोने मे एक स्त्री-मूर्ति का केवल एक हाथ बच पाया है, शेष शरीर टूट गया है। बायों मे दो वीणाएँ हैं। दाहिनी ओर की वीणासम्राट् समुद्रगुप्त के सिक्कों पर पाई गई वीणा के समान है और सप्ततंत्री वीणा है। बाई ओर का वाद्य आजकल के वायोलिन जैसा है। इसे नवतंत्री या विपंची वीणा कह सकते हैं। एक स्त्री ढपली बजा रही है, उसके बाद की स्त्री पंखा या चामर लिए है, फिर एक स्त्री मंजीरा बजा रही है। उसके समीप की स्त्री बिना वाद्य के है। इसके बाद मृदंगवादिनी है। कोने की टूटी मूर्ति के बाद की स्त्री वेणु या वंशी बजा रही है। बीच मे दीपक जल रहा है जिससे प्रकट है कि संगीत रात्रि को हो रहा है। इन वनिताओं के केश-विन्यास विविध ढंग के है। यह शिलापट्ट गुप्तकालीन संगीत-कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। (हरिहर निवास द्विवेदी—ग्वालियर राज्य में प्राचीन मूर्तिकला-विक्रम स्मृति ग्रंथ; पृ० ७०५–६)

ऊपर ब्रज की प्राचीन वास्तु तथा मूर्ति कला से प्राप्त थोड़े से ही संगीत-उदाहरण दिये गये है। परन्तु उनसे तत्कालीन नृत्य तथा वाद्य यंत्रों के संबंध मे कुछ आभास मिल जाता है। इन कलाकृतियो पर से ब्रज के प्राचीन वाद्य तथा नृत्य के संबंध मे अन्वेषण करना सचमुच बड़े महत्व का कार्य होगा। मोटे रूप मे इतना कहा जा सकता है कि ये उदाहरण भरत आदि प्राचीन नाट्यकारो द्वारा प्रचारित संगीत के नियमानुसार ही है।

भरत ने नाट्यशास्त्र मे दो प्रकार की मुख्य वीणाओ का वर्णन किया है—सप्ततंत्री तथा नवतंत्री—

'सप्ततंत्री भवेच्चित्रा विपंची नवतंत्रिका।
विपंची कोणावाद्या स्यात् चित्रा चांगुलिवादना॥'

गीत तंत्री स्वरों के अनुकूल ही चलते थे। इस प्रकार के गीत के लिये 'तंत्रीस्वर विमिश्रन गीत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन संस्कृत साहित्य मे 'काचिद्योपिदुपवीणयति' 'उपवीणयती योपित्' आदि कथन मिलते हैं। जिनसे पता चलता है कि स्त्रियाँ वीणा बजाने मे निपुण होती थीं। अंतःपुर का वर्णन करते हुए वाणभट्ट ने कादंबरी मे कन्याओं द्वारा वंशी वीणा-वादन का उल्लेख किया है, जिससे संगीत

की विविध प्रकृतियों का बोध होता है। यथा—

'वेणुवाद्येषु चुम्बरव्यतिकरान्'
'वीणासु करकह व्यापारान्, आदि।
'अशोक तरु ताडनेषु चरणाभिघातान

से नर्तकियों द्वारा अशोक दोहद का भी पता चलता है। नर्तकियों का नृत्य के समय घुँघुरु युक्त नूपुर तथा मेखला आदि बजनेवाले आभूषणों का पहिनना आवश्यक था। महाकवि कालिदास ने मेघदूत में वरागनाओं के नृत्य का वर्णन करते हुए लिखा है—'पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतैः, (मेघ०, १, ३६) अर्थात् सध्या समय नृत्य करती हुई वेश्याओं की करधनी के घुँघुरू बड़े मीठे शब्द से बज रहे होंगे।

कालिदास के विरही यक्ष की कान्ता घुँघुरूदार कड़े वाले हाथों से साँझ के समय ताली बजा बजाकर मयूर को नचाया करती थी। (मेघ०, २, १६,)

'तालैः शिञ्जावलय सुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठ सुहृद्वः।'

सगीत का उपर्युक्त मनोरंजक उन्मुक्त रूप जो कला और साहित्य दोनों में मिलता है ब्रज में कब तक चला, इसके विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है, तथापि इतना कहा जा सकता है कि मुसलमानों के आगमन के पूर्व तक, अर्थात् लगभग १२ शताब्दी के अन्त तक, यहाँ प्राचीन सगीत की धारा बहती रही होगी, यद्यपि गुप्त-काल (६०० ई०) के बाद की संगीत परिचायक मूर्तियाँ बहुत कम प्राप्त हुई हैं। यह निर्विवाद है कि गुप्तकाल तक ब्रजभूमि कलाओं के क्षेत्र में अग्रणी रही। १२वीं शताब्दी के बाद से १६वीं श० के मध्य तक ब्रज भूमि पर लगातार एक के बाद दूसरा आक्रमण होता रहा और यहाँ की सस्कृति को गहरा धक्का पहुँचता गया। इस राजनैतिक अशान्ति के फलस्वरूप सगीत का ह्रास स्वाभाविक था। सोलहवीं शताब्दी के मध्य में सास्कृतिक पुनरुत्थान के साथ सगीत का आगमन एक बार फिर ब्रजभूमि पर हुआ। उस सगीत की परंपरा उसके प्रधान अंग 'रास' के समेत अब तक ब्रजमंडल में जीवित है।

रास—रास ब्रज की अनोखी वस्तु है। इसमें संगीत के तीनों अंगों—

गीत, वाद्य तथा नृत्य का सम्मिश्रण है। अतः रास को ललितकला की एक विशिष्ट वस्तु कहना अनुचित न होगा। इसके द्वारा जिस सुन्दरता से ब्रज का साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक जीवन अभिव्यक्त किया जा सकता है वैसा अन्य किसी एक साधन द्वारा नहीं।

रास का प्रारंभ—ब्रज मे रास का जो वर्तमान रूप है उसके आरंभ होने की निश्चित तिथि विवादास्पद है। इसका प्रारंभ लगभग ई० सोलहवीं शताब्दी के मध्य से माना जाता है। ऐसा प्रचलित है कि निम्बार्क संप्रदाय के अनुयायी श्री घमंडदेव ने जो श्री हरिव्यास-देव के शिष्य थे रास का प्रारंभ किया। खेद है कि इनके विषय में ज्ञातव्य बातें नहीं प्राप्त हो सकीं। केवल 'रास सर्वस्व' नामक ग्रन्थ से इतना पता चलता है कि घमंडदेव ने करहला निवासी उदयकरण तथा खेमकरण नामक दो ब्राह्मण भाइयों की सहायता से रास का आरंभ किया।

ब्रज-निवासी स्वर्गीय श्री राधाकृष्ण स्वामी रास के विशेषज्ञ थे, उन्होने उक्त 'रास-सर्वस्व' नामक एक पुस्तक की रचना भी की है। इसमे रास की प्राचीनता का वर्णन आया है और शांडिल्य रास सूत्राणि, रासोल्लासतंत्र, वृहद्गौतमीय तंत्र, राधातंत्र, रहस्यपुराण आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों का, जिसमें रास संबंधी वर्णन आये है, उल्लेख मिलता है। दुर्भाग्य से इन ग्रन्थों मे से कोई भी उपलब्ध नहीं हो सका, अन्यथा रास के संबंध मे अनेक महत्वपूर्ण बातों का पता चल सकता।

उक्त 'राससर्वस्व' मे एक स्थल पर यह भी लिखा है कि नारायणभट्ट ने सं० १७१४ मे वल्लभनर्तक तथा करहला वासी रामराय व कल्याणराय—दो ब्राह्मणो की सहायता से रास का आरंभ किया। इन दोनों बातों से यही संभव प्रतीत होता है कि श्रीघमंडदेव तथा नारायणभट्ट दोनों का ही रास के प्रारंभ करने मे हाथ रहा है। यह अभी तक पूर्ण निश्चित नहीं कि दोनो समकालीन थे या नहीं।

श्री नारायणभट्ट का नाम बड़े महत्व का नाम है। इन्होने न केवल रास का आविष्कार किया अपितु अनेक ग्रन्थों की रचना कर ब्रज के वैभव को भारत मे फैलाया, प्राचीन लीला-स्थलों की खोज की तथा ब्रज चौरासी कोस यात्रा का आरंभ किया। कहा जाता है कि

श्री चैतन्य महाप्रभु की परंपरा में गोपालभट्ट हुए और उनके शिष्य नारायणभट्ट हुए और उन्होंने बरसाने के पास ऊँचे गाँव में रास की "बूढ़ी लीला" प्रारंभ की। बूढ़ी लीला में 'नौकालीला' तथा 'उद्धव-लीला' उत्तम कही जाती हैं।

श्री प्रभुदयाल मीतल ने हाल में नारायणभट्ट पर एक खोजपूर्ण निबंध लिखा है जो म० भा० (आ० भा० भा० २००३, पृ० ६-११) में छप चुका है। भट्ट जी की संस्कृत में लिखी हुई 'श्रीनारायणचार्य चरितामृत" नामक एक जीवनी मीतल जी को मिली है जिसके आधार पर उन्होंने भट्ट जी का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त लिखा है। उसका सारांश यह है—

भट्टजी के पूर्व पुरुष दक्षिण में मद्रास के रहने वाले भृगुवंशी तैलंग ब्राह्मण थे। वे माध्व सम्प्रदायी तथा कृष्ण भक्त थे। इसी वंश में उत्पन्न रंगनाथ जी के छोटे पुत्र नारायणभट्ट हुए। इनका जन्म सं० १५८८ की वैशाख शु० १४ (नृसिंह चौदस) को हुआ। [कुछ लोगों ने इनका जन्मकाल सं० १६२० तथा कुछ ने सं० १६८८ लिखा है।]

बाल्यकाल से ही नारायणभट्ट भगवान् कृष्ण के भक्त थे, १२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'ब्रज प्रदीपिका' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। लगभग १६ वर्ष की अवस्था में वे गोवर्धन आये, फिर राधाकुण्ड जा कर वहीं रहने लगे। यहाँ श्री चैतन्य के अनुयायियों से इनकी भेंट हुई और श्री कृष्णदास ब्रह्मचारी से इन्होंने साम्प्रदायिक रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया। राधाकुंड में रह कर इन्होंने निम्न सात ग्रन्थों की रचना संस्कृत में की—

१—व्रजदीपिका, २—व्रजभक्तिविलास, ३—व्रतोत्सव चंद्रिका, ४—व्रजमहोदधि, ५—व्रजोत्सवाह्लादिनी, ६—बृहद्व्रजगुणोत्सव, ७—व्रजप्रकाश।

इसके बाद वे बरसाने के पास ऊँचे गाँव या ऊँचा गाँव में रहने लगे जहाँ उन्होंने अन्य अनेक भक्ति ग्रन्थों की रचना की जो सभी संस्कृत में हैं।

'ब्रज-भक्ति विलास' नामक पुस्तक में भट्टजी ने ब्रज चौरासी कोस में स्थित वन, उपवन तथा अन्य दर्शनीय स्थलों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों की तरह उन्होंने भी

ब्रज के अनेक प्राचीन तीर्थों की खोज की। इन स्थानों पर अकबर के मन्त्री टोडरमल ने पक्के कुण्ड, तालाव तथा मन्दिर बनवाये।

श्रीनारायणभट्ट का समकालीन वल्लभ नामक एक नर्तक था, जो गान वाद्य यथा नृत्य तीनो में निपुण था। वह बादशाह अकबर की सेवा से अवकाश लेकर वृंदावन मे रहता था। नारायणभट्ट ने रामलीला के लिये उसकी सहायता प्राप्त की। ब्राह्मणों के दश सुन्दर बालक इस कार्य के लिये नियुक्त किये गये और उन्हे वल्लभ ने गान-नृत्य की शिक्षा दी। एक वालक कृष्ण बनाया गया। दूसरा राधिका और शेप आठ राधाजी की आठ सखियो का अभिनय करने के लिये सिखाये गये। ब्रज में जहाँ श्रीकृष्ण जी ने जो-जो लीला की थी वहाँ वही लीला की गई। राजा टोडरमल ने उन-उन स्थानो पर भी पक्के रासमंडप बनवा दिये।

संभवतः रास का प्रथम अभिनय करहला ग्राम में हुआ। वहाँ भगवान कृष्ण के मुकुट की पूजा के लिये एक मंदिर भी स्थापित किया गया था।

वल्लभ द्वारा प्रचारित नृत्य वर्तमान रासधारियों में प्रायः ज्यो के त्यों प्रचलित हैं।

ब्रज के तीर्थों का उद्धार तथा रास का प्रारंभ हो जाने पर भट्टजी ने भाद्रपद शुक्लपक्ष में अपनी मण्डली के साथ ब्रज की यात्रा प्रारम्भ की, जिसमें स्थान-स्थान पर दर्शन कथा-वार्त्ता और रास की धूमधाम थी। यह यात्रा ब्रज मे अबाध गति से अब तक चली आ रही है।

रास का प्रधान रूप भगवान कृष्ण का अनेक गोपियों के साथ एक मण्डल मे नृत्य करना है। इस भाव को इस सूत्र द्वारा कहा गया है—'बहुनर्तकी युक्तो नृत्यविशेषो रासः'। इसका पूर्व रूप हल्लीसक या हल्लीशक नृत्य है—

नर्तकीभिरनेकाभिर्मण्डले विचरिष्णुभिः।
यत्रैको नृत्यति नटस्तद्वै हल्लीसकं विदुः॥

वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' (अधि० २, अ० १०, २५) में कहा है—

हल्लीशक क्रीडनकैर्गायनैर्नाट्यरासकैः।

इस पर टीकाकार यशोधर ने अपनी जयमगला टीका मे यह व्याख्या की है—

मडलेन च यत्स्त्रीणा नृत्त हल्लीसक तुतत्।
नेता तत्र भवेदेको गोपस्त्रीणा यथा हरि ॥

अर्थात् एक नेता का अनेक स्त्रियों के साथ मण्डल में नृत्य करना हल्लीसक है। जैसे गोपियों के साथ कृष्ण का।

'नाट्यरासक' को टीकाकार ने गीतविशेष कहा है—'नाट्यरासकैरन्योन्यदेशीयै, तेषा श्राव्यत्वाद्गीत विशेषणमेतत्'। 'अन्योन्य देशीयै' व्याख्या से ज्ञात होता है कि यह गीत निभिन्न देशों का अलग अलग था। 'साहित्य-दर्पणकार' ने 'रासक' को एक अङ्क मे समाप्त होने वाला छोटा नाटक माना है (सा० द०, अ० ६, पृ० ५४८)। हो सकता है कि इसी 'रासक' शब्द से 'रास' की उत्पत्ति हुई हो। विश्वनाथ ने अपना 'साहित्य-दर्पण' १३५० ई० के लगभग लिखा, जबकि वर्तमान रास की उत्पत्ति १५६० ई० के लगभग हुई।

चित्रकला में हल्लीसक के उदाहरण— (क) अजन्ता की एक गुफा मे ई० पाँचवीं शताब्दी का एक मनोरञ्जक चित्र मिला है। इसमें एक पुरुष के साथ मण्डल में अनेक स्त्रियाँ नृत्य करती हुई चित्रित की गई हैं। सभी विविध प्रकार के आभूषणों से सज्जित हैं। पुरुष नृत्य करता हुआ भाव दिखा रहा है। स्त्रियाँ वशी आदि बजाती हुई प्रदर्शित की गई हैं।

(ख) ग्वालियर राज्यान्तर्गत बाघ (प्राचीन व्याघ्र) गुफा में हल्लीसक नृत्य का एक बहुत ही सुन्दर दृश्य चित्रित है, जो लगभग सातवीं शताब्दी का है। इसमें लम्बा कुर्ता, पायजामा तथा ऊँची टोपी पहने हुए एक पुरुष बीच मे है तथा उसके चारो ओर मण्डल में एक दूसरे का हाथ पकडे हुए स्त्रियाँ हैं, सभी नृत्य में आसक्त हैं। वेष भूषा से पुरुष शक जातीय ज्ञात होता है। हो सकता है शकों में इस नृत्य-विशेष की ओर अधिक रुचि रही हो।

यह कहना कठिन है कि वर्तमान रास नृत्य का पार्वती के 'लास्य' नृत्य से कोई सम्बन्ध है या नहीं, क्योंकि हमे अभी तक 'लास्य' के सम्यक् स्वरूप का पता नहीं चला है।

वर्तमान रास में नृत्य के साथ विविध लीलाओं के अनुरूप संवाद भी चलते रहते हैं। ये संवाद गद्य-पद्य मय होते हैं। पद्यों में सूरदास, नन्ददास, ललितकिशोरी आदि कवियों के पद विशेष रूप से गाये जाते हैं, जो विविध रागों में होते हैं। कभी-कभी कवित्त और सवैये भी गाये जाते हैं। रास के आरम्भ और अवसान में कतिपय संस्कृत के श्लोक भी सुने जाते हैं। उपर्युक्त गीतादि विभिन्न रास-मण्डलियों में सम्प्रदाय तथा रुचि के अनुसार अलग-अलग होते हैं। वेष-भूषा तथा अलङ्करण आदि में भी थोड़ी-बहुत भिन्नता दिखाई देती है। सभी मण्डलियों में स्त्री-पात्रों का अभिनय पुरुषों तथा बालकों द्वारा ही कराया जाता है जिससे साधारण तथा अन्य बातों के साथ वह वास्तविकता नहीं आ सकती जो स्त्री पात्रों के द्वारा लाई जा सकती है। तो भी रास के कथनोपकथन, वाद्यों के साथ उठी हुई सुन्दर स्वर-लहरी तथा सम्पूर्ण अङ्गों में गति तथा वेग पैदा करने वाले भावात्मक नृत्य—जो सभी आध्यात्मिक भावना से आन्दोलित रहते हैं—भारतीय सङ्गीत में रास का विशिष्ट स्थान सिद्ध करते हैं।

भ्रमरगीत—रास का एक मुख्य अंग भ्रमरगीत है, जिसमें विरहिणी गोपिकाओं द्वारा अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के पास अपना विरह-संदेश भेजना दिखाया जाता है। संस्कृत में 'मेघदूत' 'पवनदूत' आदि अनेक काव्यों की कल्पना की गई, पर भ्रमरगीत में निष्कपट प्रेम की जो गंभीरता, करुण रस की उत्कृष्टता तथा विप्रलंभ शृंगार की सजीवता देखने को मिलती है वह बेजोड़ है। इसका अभिनय देखने से पता चलता है कि किस प्रकार प्रेमिका गोपिकाओं ने विशुद्ध प्रेम से आप्लावित अपना 'हृदय खोल कर रख दिया है। भ्रमरगीत की कथा सूर, नंददास आदि कितने ही कवियों तथा कलाकारों की प्रिय वस्तु बन गई। श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी अपने 'प्रिय-प्रवास' में इस कथा का वर्णन खड़ी बोली में बड़े ही मनोहर ढंग से किया है, और उसमें यत्र-तत्र मौलिकता का भी समावेश कर दिया है।

रास का भविष्य—रास की अन्य कितनी ही सुन्दर लीलाएँ हैं जो आज के युग में भी दर्शकों को आनंद विभोर कर देती हैं। इस समय आवश्यकता है ब्रज के इस पुनीत तथा प्राचीन लोक-संगीत के संरक्षण तथा संवर्धन की। इस दिशा में रास के उद्भव तथा विकास के

सम्यक अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। साथ ही वर्तमान काल के अनुकूल इसमें आवश्यक संशोधन करने भी आवश्यक हैं। देखा जाता है कि वर्तमान रास में लौकिक तत्वों का अभाव है और धार्मिकता की मात्रा अधिक है। विभिन्न रास मंडलिया जो इस समय रास करती हैं उनकी विधियों भी अनेक प्रकार की हैं। इन विधियों का अध्ययन कर रास के प्रधान रूप का निश्चित करना आवश्यक हैं। प्राचीन वेष-भूषा की जानकारी भी वाञ्छनीय है। धार्मिक मर्यादा को बनाये रखते हुए कला की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। आजकल सभी मडलियों में गोपियों का अभिनय लड़कों द्वारा कराया जाता है। यह बात आधुनिक कलाविदों को विशेष रूप से खटकती है। जिस समय ब्रज में रास का प्रारंभ हुआ था उस समय हिंदू-समाज की दशा को देखते हुए यह आवश्यक समझा गया था कि लड़कियों को घर से बाहर निकल कर सार्वजनिक स्थानों में नृत्य गान आदि में भाग लेना उचित नहीं। यहा के लोगों ने अन्य स्थानों में प्रचलित देवदासी प्रथा के भी कुफल देख लिए होंगे परन्तु अब समय बदल गया है। अब संगीत को विशुद्ध ललितकला के रूप में समझना चाहिए, जैसा कि प्राचीन भारत में था। देव दासियों की प्रथा लगभग ७ वीं शताब्दी से प्रारंभ हुई थी और अब इतिहास से निश्चित होता है कि प्राचीन काल में स्त्री पुरुष सभी संगीत में भाग लेते थे। मथुरा से ही प्राप्त सैकड़ो प्राचीन मूर्तियों तथा शिलापट्टो पर नृत्य, वाद्य तथा गायन संबधी अनेक प्रकार के दृश्यों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, जिनमें स्त्री पुरुष साथ-साथ भाग लेते हुए देखे जाते हैं। प्राचीन साहित्य में स्थान-स्थान पर संगीत संबधी वर्णन मिलते हैं जिनमें स्त्रियों का बहुत बडे रूप में भाग लेना पाया जाता है। भगवान् कृष्ण की लीला तो परम पावन हैं, उसमें दूषित शृङ्गार की कहीं गंध नहीं है। इस लीला से सम्बन्धित संगीत में भाग लेना बालिकाओं या स्त्रियों के लिए निषिद्ध न होना चाहिए। आशा है कि इस प्रकार समयानुकूल परिवर्तनों द्वारा रास में विशेष औचित्य, माधुर्य तथा आकर्षण के दर्शन होने लगेंगे और साथ ही यह परंपरागत धार्मिक संगीत संपूर्ण भारतीय जनता का प्रिय विषय हो जायगा।

रास के अतिरिक्त गायन कला अपने स्वतः रूप में भी मिलती है, ब्रज के 'ध्रुपद' प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि 'ध्रुवा' नामक गीत से

ध्रुपद का आविष्कार हुआ है। जो हो, सोलहवीं श० में इन ध्रुपद गायन शैली का ब्रज में विशेष प्रचार मिलता है। ये तीन वीणा, पखावज, तंबूरा आदि के साथ गाये जाते हैं। यह गायन-पद्धति कव्वाली, ठुमरी आदि विदेशी गीत-शैलियों से पृथक है, और कहीं अधिक सरस तथा गंभीर है। अष्टछाप कवियों के समय ब्रज में संगीत की मधुर धारा प्रवाहित हुई। सूरदास, नंददास, कृष्णदास आदि स्वयं गायक थे तथा इन्होंने विविध गीतों का अपार भंडार अपनी रचनाओं में भर दिया। इनकेअतिरिक्त स्वामी हरिदास संगीत-शास्त्र के प्रकांड आचार्य तथा गायक थे, जिनके तानसेन जैसे संगीतज्ञ भी शिष्य थे। मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, तथा गोवर्धन बहुत काल तक संगीत के केन्द्र रहे जहाँ दूर-दूर से संगीतज्ञ और कलाप्रेमी आते रहे। सम्राट् अकबर तक श्री हरिदास स्वामी के मधुर गीतों के सुनने का लोभ संवरण न कर सके और वृन्दावन आये। आधुनिक संगीतज्ञ में भी गोरिया बाबा, चंदन चौबे आदि के नाम उल्लेखनीय है।

रास के अतिरिक्त ब्रज में प्रचलित लोक-संगीत के कई दूसरे रूपों का विस्तृत उल्लेख श्री सत्येन्द्रजी ने ब्रजभारती (ज्येष्ठ १९९९) में किया है।

नृत्य—मथुरा की प्राचीन स्थापत्य तथा मूर्तिकला से नृत्य सम्बन्धी जो चित्र प्राप्त हुए है उनका संक्षिप्त वर्णन पीछे किया जा चुका है। ये नृत्य लोकरञ्जन की भावना से युक्त होते थे। इनमे धार्मिकता का प्राधान्य न था। हम देख चुके है कि धार्मिक कृत्यो मे नृत्य का अपना स्थान था। प्रायः नृत्य के साथ-साथ गीत और वाद्य भी चलता रहता था। तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थो से विदित होता है कि नृत्य का साधारण वर्ग तथा सम्भ्रान्त समाज दोनों मे प्रचलन था। ये नृत्य भरतमुनि आदि प्राचीन नाट्य शास्त्रकारों द्वारा निर्मित नियमो के प्रायः अनुकूल ही होते थे।

रास के नृत्य—इन नृत्यों के सम्बन्ध में पीछे कहा जा चुका है कि ई० सोलहवीं श० के मध्य के आसपास इनका प्रारम्भ हुआ। इनके अनेक रूप है। कभी कृष्ण अकेले और कभी एक यो अनेक सखियो के साथ नृत्य करते है। कभी केवल सखियाँ अकेली या

सम्मिलित रूप में नाचती हैं। नृत्यों के ढङ्ग विभिन्न लीलाओं के अनुरूप होते हैं। ये ब्रज के ठेठ नृत्य माने जाते हैं। कहा जाता है कि इन के मुख्य रूप वही हैं जो प्रसिद्ध नर्तक वल्लभ के द्वारा निर्धारित किये गये थे। तो भी समयानुसार इनमे कुछ न कुछ अन्तर आ जाना अपरिहार्य है।

चरकला नृत्य—श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी ने चरकला नामक एक बडे मनोरञ्जक नृत्य का उल्लेख किया है। उनके वर्णन के अनुसार (ब्रज भा०, माघ, २०००, पृ० ८-६) ऊमरी, नगरी तथा रामपुर गाँवों मे चैत्र कृ० २ से ५ तक रात मे यह नृत्य होता है। एक स्त्री अपने सिर पर पीतल या लोहे का घडा रखती है, जिस पर एक चौखटा लगा रहता है। इस चौखटे मे प्रत्येक स्ली पर एक जलता दीपक रक्खा रहता है। कुल ३६ दीपक होते हैं। घडा भरा होता है और वज़न लगभग २० सेर होता है। एक जाट स्त्री उसे सिर पर रखती है और दोनों हाथों पर एक-एक लोटे के ऊपर भी जलते दीपक रखती है। तब वह नृत्य करती है। नृत्य की यह खूबी रहती है कि सिर पर तथा हाथों पर रखे हुए दीपक बुझने नहीं पाते। नर्तकी का एक साथी हाथ में करताल लेकर उसके चारों ओर नाच-नाच के बाजा बजाता है और इस प्रकार उसे उत्साहित करता रहता है। यह नृत्य धार्मिक माना जाता है और प्राय सभी स्त्रियाँ—वहुएँ, युवतियाँ—इसके लिये उत्सुक रहती हैं।

यह फूलडोल का नृत्य है। भगवान् कृष्ण के जीवन सबधी गीत इस नृत्य के साथ प्राय गाये जाते हैं। कभी-कभी श्रीराम के जीवन-गीत भी गाये जाते हैं।

श्री चतुर्वेदी जी का कथन है कि इस चरकला नृत्य का लगभग ५० वर्ष पहले ऊमरी गाँव में आविष्कार हुआ फिर रामपुरा के सॉवलिया नामक बढ़ई ने इसको अधिक सुन्दर रूप दिया। अब यह तीनों गाँवों से आगे बढ रहा है।

मथुरा के सगीत के सबंध मे कहा जा सकता है कि वह अधिकाश में धार्मिक रहा है। और उसके अनेक रूपा में लौकिक तत्त्वों का अभाव रहा है। हम उसमें वह अश्लीलता नहीं पाते जो लौकिक तत्त्वों की सीमा का भी अतिक्रमण कर जाने वाले बाजारू संगीत मे

मिलती है। इतिहास से पता चलता है कि व्रज में रास का आरंभ होने के बहुत पहले भारत के मन्दिरों में और विशेष कर दक्षिण के मन्दिरों में देवदासियों के रखने की प्रथा थी। देवपूजा में आरती आदि के समय गान-नृत्य का अनिवार्य वस्तु मान लिया गया था। इसी कार्य के लिये गान नृत्य में कुशल स्त्रियाँ मंदिरों में रक्खी जाने लगीं। धीरे-धीरे इनकी संख्या काफी बढ़ने लगी। और ये स्त्रियाँ अधिकांश में गणिकाएँ ही होती थीं। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेन्त्सॉग ने मुलतान के सूर्य-मन्दिर में अनेक देवदासियों को देखा था। काश्मीर, काठियावाड़ तथा राजपूताने के मन्दिरों में भी यह प्रथा थी। परन्तु दक्षिण के मन्दिरों में तो सैकड़ों देवदासियों के होने के प्रमाण मिलते हैं। देवदासियों का रखा जाना पहले धर्मपरक था, पर धीरे-धीरे वह मनोविनोद का साधन हो गया। इस प्रकार बड़ी संख्या में मन्दिरों में देवदासियों के होने से धार्मिक वातावरण का दूषित हो जाना स्वाभाविक था। फलस्वरूप मन्दिरों की धार्मिकता में कमी होने लगी और वे न केवल मनोरंजन के केन्द्र समझे जाने लगे अपितु वासना के अड्डे भी बन गये। दामोदर भट्ट ने अपने 'कुट्टिनीमतम्' में स्पष्ट वर्णन किया है कि किस प्रकार काशी का प्रसिद्ध विश्वनाथ मन्दिर जहाँ लोक-रंजन के लिये विविध भाँति के नाटक किये जाते थे, इस विषाक्त वातावरण से अछूता न रह सका।

व्रज के प्राचीन मन्दिरों को हम दूषित प्रथा से मुक्त पाते हैं। यद्यपि अनेक रास-मंडलियाँ मन्दिरों से सम्बन्धित रही हैं और अब भी हैं तथापि उन्होंने कड़े नियमों द्वारा देवालयों का शुद्ध धार्मिक वातावरण स्थिर रखने में बड़ी सहायता की है। और इस प्रकार भगवान् कृष्ण के पूजा-स्थलों को दूषित होने से बचा लिया है।

मथुरा कला का संरक्षण—अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक मथुराकला की वह आंशिक अमूल्यनिधि, जो आक्रमणकारियों के हाथों से पृथिवी, जल या विशेष संरक्षण में दबी हुई रहने के कारण बच पाई थी, प्राय: अज्ञात थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जब मुख्यत: कतिपय पाश्चात्य कला-मर्मज्ञों के द्वारा इस कला का मूल्य आँका गया और प्रसुप्त भारतीयों की चेतना भी कुछ आन्दोलित हुई तो उसके संरक्षण का उपाय सोचा जाने लगा। १८६० ई० के

लगभग उस स्थान के पास जहाँ आजकल मथुरा की कलक्टरी कचहरी है, एक आकर्षक इमारत बनाई गई जिसमे मथुरा मे प्राप्त प्राचीन मूर्तियों आदि के रखने की व्यवस्था की गई। पर यह कार्य अपर्याप्त तथा अव्यवस्थित रूप से ही रहा, क्योंकि अधिकारियों एव जनता म इस ओर रुचि न थी। सन् १८७४ ई० मे मथुरा के अध्यवसायी कलक्टर श्री एफ० एस० ग्राउस महोदय ने उस इमारत को एक सग्रहालय का रूप दिया और उसे तदनुकूल बनवाया। उन्होंने इस कार्य के लिए सरकार से सहायता दिलवाई तथा स्थानीय जनता से भी कुछ धन एकत्र किया। परन्तु अब भी लोगों मे विशेष रुचि न थी। फलस्वरूप शिल्पकला की सैकडों महत्वपूर्ण कृतियॉ विदेश जाने लगीं, क्योंकि विदेशी लोग इस कला के सौंदर्य तथा वैशिष्ट्य पर मोहित हो गए थे। लन्दन, बर्लिन, पेरिस, व बोस्टन आदि के म्यूजियम मथुरा की सैकडों मूर्तियों से भर गये। इधर कुछ वस्तुएँ कलकत्ता म्यूजियम भी गई। ई० १८८८ से १८९१ तक लखनऊ म्यूजियम के क्यूरेटर डा० फ्यूहरर ने प्रसिद्ध जैनस्तूप को, जो कंकाली टीले में था—खुदवाया और वहा से कई सहस्र मूर्तियाँ, वेदिकास्तभ, तोरण-आयागपट्ट आदि प्राप्त किये जो सभी लखनऊ के सग्रहालय में भेज दिये गए। तो भी मथुरा सग्रहालय मे पर्याप्त वस्तुएँ आ चुकी थीं और सन् १९०५ तक सग्रहालय मे कला की लगभग ३ हजार वस्तुएँ इकट्ठी हो चुकी थीं। इसी वर्ष प्रान्तीय सरकार की प्रार्थना पर हालैंड के एक विद्वान डाक्टर फोगल ने जो उस समय भारतीय पुरातत्त्व विभाग मे थे, सग्रहालय की वस्तुओं की एक सूची बनानी प्रारभ की, जो १९१० ई० में प्रकाशित हुई। इस सूची के प्रकाशित होने से ससार के सम्मुख मथुराकला का गौरव विशेष रूप से प्रकट होगया।

१९०८ ई० में मथुरानिवासी प० राधाकृष्णजी ने संग्रहालय के लिये अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। उनके उत्साह तथा विशेष परिश्रम का ही फल था कि कुछ ही वर्षों में सैकडों बहुमूल्य कला-कृतियाँ प्राप्त हो गईं। यद्यपि पडितजी ने कुछ अच्छी वस्तुएँ विदेशों को भेज दीं तथापि मथुरा सग्रहालय के लिये उन्होंने जो सेवाएँ कीं वे सराहनीय हैं। उनका सबध संग्रहालय से [illegible] १९३३ ई० तक बना रहा। उनके परिश्रम तथा प्रयत्न के फलस्वरूप सन् १९२९ ई० में

संग्रहालय की वर्तमान नवीन इमारत डैम्पियर नगर मे बनी जिसमे व्यवस्थित ढंग मे सामग्री का प्रदर्शन किया गया।

भविष्य—मथुराकला का इस समय काफी ख्याति संसार मे हो चुकी है। बड़े-बड़े कलावत्ता मुक्तकंठ से इस कला का बखान करते है। अब भी प्रति वर्ष ब्रज से काफी संख्या मे कलाकृतियाँ प्राप्त होती रहती हैं परन्तु उनको प्राप्त करने में बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ सामने आती हैं। अभी हमारा भाला-भाली जनता कला के महत्व को नहीं पहचानती। सैकड़ो वस्तुए अब भी नष्ट हो रही है। अनेक महत्व-पूर्ण ऐतिहासिक तथा कलात्मक वस्तुएँ पूजन मे पड़ी हैं। वह पूजन भी प्राय गलत ढंग का होता है। उदाहरणार्थ बुद्ध की मूर्ति शिव मानकर, जैन तीर्थकर को प्रतिमादेवी मान कर तथा यक्ष प्रतिमा को कृष्ण की मूर्ति मान कर उनकी पूजा की जाती है। इसका प्रधान कारण जनता का अज्ञान तथा अंधविश्वास हे। शिक्षण-शिविर के स्नातक बन कर आप लोगों का गाँवो मे जा कर यह कर्तव्य होगा कि अंधविश्वासो मे पड़ी हुई भोली जनता को वास्तविक बात समझावें। इस प्रकार बहुत सी कला-कृतियाँ—मूर्तियाँ, चित्र संगीत के प्राचीन वाद्य यंत्र पुस्तके आदि नष्ट होने से बच जायँगी। हमारी संस्कृति का बहुत बड़ा भाग नष्ट हो चुका है। अब जो कुछ सौभाग्य से बच सका है हमे उसकी रक्षा करनी चाहिए तथा उसके महत्व के प्रसार का प्रयत्न करना चाहिए।

आज ब्रज-प्रदेश अपनी कलाओं को भूल-सा गया है और परमुखापेक्षी बन गया हे। आज जयपुर, बम्बई आदि स्थानो में निर्मित मूर्तियाँ, चित्र आदि यहाँ दिखलाई पड़ते है। यह खेद की बात है। हमे ब्रज की प्राचीन कलाओं का उद्धार करना है और जनपद के सुप्त कलात्मक जीवन को पुनः जाग्रत करना है। हमे प्रयत्न करना चाहिये कि हमारे कलाकार अपने पूर्वजों की परंपरा को जारी रखें और उनके गौरव को अमर बनावें। हमें अपनी प्राचीन कला का सम्यक् अध्ययन अन्वेषण कर एक बार फिर उसका सर्वतोमुखी प्रसार रकके ब्रज-भूमि को गौरवान्वित करना चाहिए।

परिशिष्ट—

शिल्प सम्बन्धी ग्रन्थ—मथुरा की बढ़ी हुई शिल्प कला के अनुरूप यहाँ शिल्प सम्बन्धी ग्रन्थों का भी अवश्य प्रणयन हुआ होगा। जैसा पीछे लिखा जा चुका है। मथुरा के शक-क्षत्रप तथा शासक स्थापत्य तथा मूर्तिकला के बड़े प्रेमी थे। मथुरा से मिली हुई अधिकांश सामग्री शक-कुषाण काल की ही है। क्षत्रप लोग विद्या प्रेमी थे और वे पुस्तकालयों की सरक्षा भी करते थे। इसका प्रमाण कुछ समय पूर्व उपलब्ध एक हस्तलिखित ग्रंथ में मिलता है।

सन् १६२७ में मथुरा पुरातत्व-संग्रहालय के भूतपूर्व क्यूरेटर रायबहादुर प० राधाकृष्ण जी को मथुरा से दो अमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुए थे। उनमें से एक संस्कृत का शिल्पशास्त्र का ग्रन्थ था, जो देवनागरी लिपि में लिखा हुआ था। इस विशाल ग्रन्थ में, जिसके रचयिता विश्वकर्मा लिखे हुए हैं बारह विभाग हैं जिनमें कुल मिलाकर एक लाख अट्ठावन हजार श्लोक हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भिक पृष्ठों से पता चलता है, कि प्रस्तुत ग्रन्थ एक प्राचीन ग्रन्थ का अनुवाद है, जो प्राकृत में लिखा हुआ था और जो मथुरा के किसी क्षत्रप के पुस्तकालय में विद्यमान था। ग्रन्थ में क्षत्रप का नाम कट जाने से पढ़ा नहीं जा सका। वर्तमान ग्रन्थ भीमसेन नामक लेखक के द्वारा संस्कृत में अनुवादित हुआ था। यह पता लगाना कठिन है कि उक्त लेखक ने किस समय यह अनुवाद किया, परन्तु उसकी नकल करनेवाले ने लिखा है कि उसने शाहशाह अकबर के राज्यकाल में अनुवादित ग्रन्थ की प्रस्तुत प्रतिलिपि की। अतः यह प्रतिलिपि सन् १५२६ से १५३० ई० के बीच किसी वर्ष हुई होगी। प्रतिलिपि करने वाले ने अपना नाम देवीचरन लिखा है। ग्रन्थ में मूर्ति तथा स्थापत्य कला का विशद विवेचन है, पर अभी तक उसका पूर्ण अध्ययन नहीं किया जा सका।

दूसरा ग्रन्थ भी शिल्प सम्बन्धी है। इसमें सड़क, पुल, नहर आदि के निर्माण का वर्णन है। इनके अनेक प्रकार के स्वरूपों का कथन ग्रन्थ में किया गया है। इसके मूल लेखक का नाम नील लिखा हुआ है। इसका संस्कृत अनुवाद अकबर के मन्त्री खानखाना की आज्ञा से किया गया। वर्तमान पुस्तक में चवालीस हजार चार सौ

अस्सी श्लोक मिलते है। अनुवादक का नाम सुखदेव शर्मा लिखा है। उसने लिखा है कि वह मथुरा क्षेत्र मे स्थित गोकर्णेश्वर घाट पर रहने वाले माथुर ब्राह्मण वसुदेव शर्मा का पुत्र था। इस पुस्तक मे श्लोकों के साथ साथ उनकी संक्षिप्त व्याख्या भी दी हुई है।

खेद है कि ये दोनो महत्वपूर्ण पुस्तकें उक्त रायबहादुर साहब द्वारा १९२४ ई० मे ही विलायत भेज दी गई थीं। प्राचीन शिल्पशास्त्र सम्बन्धी बहुत कम ग्रन्थ प्राप्त हुए है और अब तक के मिले हुए इस विषय के ग्रन्थो मे उपर्युक्त ग्रन्थ सब से अधिक विशाल है। अभी तक इन ग्रन्थों का सम्यक्रूपेण अध्ययन नहीं हुआ, अन्यथा हमे प्राचीन भारतीय शिल्प के संबंध मे अनेक महत्वपूर्ण बातें विदित होतीं है। पहले ग्रन्थ मे पाये हुए उल्लेख से सिद्ध होता है कि मथुरा के क्षत्रप, जिन्होंने यहां लगभग ढाई सौ वर्ष तक शासन किया था, विद्याव्यसनी थे तथा पुस्तकालयों का महत्व समझते थे।*

*शिल्प-शास्त्र पर अब तक मयमतम्, शिलारत्नम्, तंत्रसमुच्चय, काश्यप-शिल्पम्, मानसार मानसोल्लास आदि ग्रन्थ प्राप्त हुए है और प्रकाशित हो चुके है।



ब्रज का इतिहास

[श्री० मदनमोहन नागर एम० ए०, क्यूरेटर प्रॉविंशल म्यूजियम, लखनऊ]

१—राजनैतिक इतिहास

अ—पूर्व काल—ब्रज मंडल की राजधानी मथुरा उत्तरी भारत के प्राचीन स्थानों में एक बड़े महत्व की जगह है। हिन्दुओं के प्रसिद्ध देवता जगतपूज्य भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की जन्मभूमि होने के कारण यह नगरी लगभग ५००० वर्षों से भागवद्धर्म का एक प्रधान केन्द्र माना जाता है। यहाँ पर हिंदुओं की अत्यंत बढ़ी चढ़ी दशा को देख कर बौद्धों और जैनों ने भी इसे अपने धर्म का केन्द्र बनाया। भगवान् बुद्ध के समय में मथुरा आर्य्यावर्त्त की सात महापुरियों में से एक गिनी जाती थी और सूरसेन प्रदेश की राजधानी थी। इस समय यहाँ 'अवन्तिपुत्र' नाम का राजा राज्य करता था, जो वत्सवंश के सम्राट् चंडप्रद्योत का दौहित्र था। अंगुत्तर निकाय नाम के बौद्ध ग्रंथ से यह मालूम होता है कि अपने जीवन काल में एक बार भगवान् बुद्ध भी मथुरा पधारे थे। उस समय इस नगर का शासन इतना बिगड़ा हुआ था और राजवंश की शक्ति इतनी हीन थी कि तथागत के मन पर इस नगरी का सत्कार अच्छा नहीं पड़ा और वे फिर दूसरी बार यहाँ नहीं आये। अशोक के अवदानों से पता चलता है कि ई० पू० ३ री शती के लगभग यह नगर अशोक के विस्तृत राज्य के अंतर्गत था और कला कौशल के नाते बड़ी उन्नत अवस्था में था। परखम (दे० चित्र १) बड़ौदा, भरतपुर, झींग का नगला आदि स्थानों से प्राप्त यक्ष-मूर्तियाँ इसी काल की हैं जो मथुरा की उच्च-कोटि की स्थापत्य-कला का परिचय देती हैं।

किंतु, मथुरा का सभा तथा अनुसन्धान (Research) की

कसौटी पर कसा हुआ इतिहास हमें शुंगकाल यानी ई० पू० १८५ से मिलता है जब यह प्रदेश शुंग राजाओं की लंबे-चौड़े राज्य का पश्चिमो सूबा था। यद्यपि शुंग राजाओं से साक्षात् संबंध रखनेवाला कोई भी स्मारक हमें अभी तक यहाँ से नहीं मिला है फिर भी उस समय की कला के सैकड़ो नमूनों से, जो मथुरा और उसके आस-पास की खुदाई में अब तक मिले है, यह स्पष्टरूपेण प्रतीत होता है कि ई० पू० दूसरी शताब्दी में यह स्थान धर्म और कला के लिए दीपक की भाँति जगमगाता था। इसी समय पश्चिमोत्तर प्रदेश में हिंदी-यूनानियों (Indo-Greeks) का बोलबाला हुआ और युग पुराण की गार्गी संहिता तथा कलिंग के राजा खारवेल की हाथीगुंफा वाली प्रशस्ति से यह जाना जाता है कि ई० पू० १५० के लगभग मथुरा शुंग नरेश पुष्यमित्र के हाथ से निकलकर यवनराज दिमित्रिय (Demetrius) के अधीन होगया था। ई० पू० १४० के लगभग दिमित्रिय की मृत्यु के पश्चात् जब हिंदी-यूनानियों का राज्य अपने ही गृह-युद्ध के कारण शिथिल होकर कई टुकड़ो मे विभक्त होगया तो शुंगों ने मथुरा को पुनः (यवनों से छीन कर अपने राज्य में) मिला लिया। पर यह हालत अधिक दिन न टिक सकी और ई० पू० १०० के लगभग यह नगर शुंगो के हाथ से फिर निकलकर पश्चिमोत्तर भारत के शक-क्षत्रपो के अधीन होगया। क्षत्रपवंश ने ई० पू० ५७ के लगभग तक मथुरा पर राज्य किया। हगान और हगामष इस वंश के सबसे पहिले सम्राट् थे, जिन्होंने साथ-साथ मथुरा पर राज्य किया। क्षत्रपवंश के सबसे प्रतापी नरेश महाक्षत्रप राजुल और उसका बेटा महाक्षत्रप शोडाष थे, जिन्होंने मथुरा मे यमुना नदी के किनारे एक विशाल सिंह-स्तंभ बनवाकर अपने को अमर किया। अभाग्यवश इस स्तंभ का तो कुछ पता नहीं चला पर इसका शीर्षभाग (Capital) इस समय लंदन के सुप्रसिद्ध ब्रिटिश म्यूजियम मे सुरक्षित है। यह मथुरा के चकत्तेदार लालपत्थर का बना है और इस पर पीठ से पीठ सटाकर बैठे हुए दो शेर तराशे गये हैं। शिखर के सारे सतह पर उस ज़माने में पश्चिमोत्तर भारत की खरोष्ठी-लिपि और प्राकृत भाषा मे एक लेख खुदा है, जिससे यह ज्ञात होता है कि यह सिंह-स्तंभ प्राचीन थेरवाद शाखा के सर्वास्तिवादी संप्रदाय के बौद्ध भिक्षुओ को भेंट चढ़ाया गया था, जिन्होंने मथुरा मे रहने वाले महायान शाखा के अनुयायी महासंघिक

नाम के विरोधी दल के गुरुओं से शास्त्रार्थ करने के लिए प्राचीन नगर (आधुनिक जलालाबाद) नाम के नगर से एक कट्टर सर्वास्तिवादी पंडित को बुलाया था। इसके अतिरिक्त इसी लेख में महाक्षत्रप राजुल की रानी कंबोजिका के भी यहाँ पर एक विहार बनवाने का उल्लेख आया है जो गुहा विहार के नाम से प्रसिद्ध था। खुदाई में जो संस्मारक अब तक मिले हैं उनमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मथुरा की राजनैतिक तथा सामाजिक दशा क्षत्रपों के समय में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और वह पूर्व और पश्चिम की संधि पर एक प्रधान केन्द्र बन गयी थी। ई० पू० ५७ के लगभग शुंगों के हाथ में फिर एक बार राजसत्ता आई और उन्होंने मथुरा में अपनी एक शाखा स्थापित की। गोमित्र और विष्णुमित्र इस शाखा के सबसे नामी राजा थे जिन्होंने ई० पू० ७० शताब्दी तक राज्य किया।

किंतु मथुरा के इतिहास में सबसे गौरवपूर्ण समय कुषाण राजाओं का है, जिन्होंने ई० स० १ से ३०० तक यहाँ लगातार राज्य किया। इस काल में कला, साहित्य, शिल्प, व्यवसाय, वाणिज्य आदि सभी विभागों में सभ्यता की परम उन्नति हुई, जिसके कारण कुषाण-युग वास्तव में मथुरा के इतिहास में 'स्वर्णयुग' कहलाता है। इस स्वर्णयुग की बढ़ी-चढ़ी कारीगरी की छाप हमें पूरे तौर से ब्रज मंडल से प्राप्त मूर्तियों आदि में दिखाई पड़ती है। इतना ही नहीं वरन् इस युग के लिए तो मथुरा सारे आर्यावर्त्त में एक प्रकार से स्थापत्य कला (lithic art) का सबसे प्रधान केन्द्र होगया था और अपने लाल चकत्तेदार पत्थर की बनी हुई मूर्तियाँ सुदूर कौशाम्बी, बनारस, श्रावस्ती, राजगृह आदि जगहों को भेजता था। इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना भगवान बुद्ध की मानुषीरूप में मूर्तियों का बनना था। (चित्र २ अ-ब) इसके अतिरिक्त जैनों के चौबीस तीर्थङ्करों का तथा हिंदुओं के अनेक पौराणिक देवी-देवताओं को मानुषी रूप में मूर्तिमान करने का श्रेय भी इसी युग के शिल्पियों को था। इस समय के शिल्प के नमूने ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व रखते हैं। कारण, इनमें से बहुतों पर ऐसे लेख खुदे हुए हैं, जिनसे कुषाण राजाओं के नाम, उनके राज्यकाल की अवधि तथा उस समय के राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। इन लेखों से हम कुषाण राजाओं का क्रमिक इतिहास (Chronology) इस

प्रकार संकलित कर सकते हैं:—महाराजा कुषाण अथवा कडफाइसिस प्रथम, जिसने कुषाण राज्य की नींव लगभग ई० सन् १ में डाली। उसका बेटा विमतक्षम या कडफाइसिस द्वितीय, जिसने लगभग ई० सन् ४० से ७७ तक राज्य किया (चित्र ३)। इसने आर्य्यावर्त्त के कुछ प्रदेशो को जीत कर अपने राज्य मे मिला लिया था। यह कट्टर-शैव था और अपने को बड़े गर्व के साथ 'माहेश्वर' कहता था। इसने सोने और ताँबे के अनगिनत सिक्के अपने राज्य में चलाये। इन सिक्कों पर एक ओर तो मोटा चोगा, सिलवार तथा गिलगिटी बूट पहने हुए राजा की और दूसरी ओर अपने वाहन बैल के सहारे खड़े हुए त्रिशूलधारी भगवान् शंकर की मूर्तियाँ अंकित हैं। विमकडफाइसिस के बाद कुषाण साम्राज्य की बागडोर कनिष्क के हाथ मे आई। यह कुषाण-वंश का सबसे प्रतापी राजा था (चित्र ४)। इसने ई० सन् ७८ से १०१ तक राज्य किया, इसका राज्य पामीर के पठारों से लगाकर पूर्व मे मगध तथा दक्षिण मे विंध्याचल तक फैला हुआ था। मथुरा इसके पूर्वीय राज्य की राजधानी थी। इसके जमाने मे सारे उत्तरी भारत में साहित्य, धर्म और कला का उत्कर्ष हुआ और मथुरा इस उन्नति का प्रधान केन्द्र था। महाराज कनिष्क स्वयं बड़ा विद्वान् था और विद्वानो का बहुत आदर करता था। बुद्ध-चरित्र और सौंदरानंद काव्यों का लेखक अश्वघोष और महायान पंथ का आदि प्रवर्त्तक आर्य वसुमित्र इसी की सभा के रत्न थे। विद्वानो का मत है कि महाराज कनिष्क के ही राज्यकाल मे बुद्ध मूर्तियो का बनना सर्व प्रथम प्रारंभ हुआ। इसके अतिरिक्त इसके काल मे अनेको पौराणिक देवी-देवताओ की मूर्तियाँ भी बनीं जिनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय भगवान् कार्तिकेय की एक मूर्ति है, जो ई० स० ८६ अर्थात् शक संवत् ग्यारह मे स्थापित की गई थी और कला तथा सौन्दर्य की दृष्टि से अद्भुत है। यह मूर्ति हाल ही में एक कुएँ से प्राप्त हुई है और इस समय मथुरा के संग्रहालय को सुशोभित कर रही है (चित्र ५)। कनिष्क के बाद कुषाण साम्राज्य का अधिकार हुविष्क को मिला। मथुरा से पाये गये लेखों से यह ज्ञात होता है कि हुविष्क ने ई० सन् १०७ से १३८ तक राज्य किया था। इसके राज्यकाल के एक लेख से पता चलता है कि मथुरा ज़िले के मॉट नामक गॉव मे इसके दादा के बनवाये हुए एक देवकुल की मरम्मत करायी गयी थी।

इस देवकुल में कुषाण राजाओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित थीं जिनमें से प्राप्त महाराज विमतक्षम और कनिष्क की मूर्तियाँ इस समय मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इस वंश का अंतिम प्रतापी राजा वासुदेव था जिसने ई० सन् १४५ से १६८ तक राज्य किया। वासुदेव के लेख अब तक हमें केवल मथुरा से ही प्राप्त हुए हैं, जिससे यह अनुमान होता है कि उसके जीवन काल में ही कुषाण साम्राज्य की नींव शिथिल होगई थी और उत्तरापथ का पश्चिमांश व अफगा-निस्तान उसके हाथों से निकल गया था। इसी समय पूर्व में गुप्त राजाओं का तथा पश्चिम में सुराष्ट्र और मालवा के क्षत्रपों का बोलबाला हुआ पर मथुरा के 'देवपुत्रशाही शाहानुशाही' राजाओं की स्थानीय शाखा यहाँ पर लगभग ई० सन् की तीसरी शताब्दी तक राज्य करती रही, जब कि गुप्त साम्राज्य के साथ यह प्रदेश उसी में अंतर्हित होगया। गुप्त राज्य की नींव ई० सन् २५० के लगभग महाराज श्रीगुप्त ने डाली थी और इस वंश ने ई० सन् ५०० तक उत्तरी भारत पर अखण्ड राज्य किया। मथुरा से इस वंश के सबसे प्रतापी राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के दो लेख मिले हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि ई० सन् ३८० में मथुरा गुप्त राज्य के अन्तर्गत थी। गुप्त युग भारतवर्ष के इतिहास में कला, साहित्य, विज्ञान आदि के उत्कर्ष की दृष्टि से 'स्वर्णयुग' माना जाता है और इस काल में मथुरा ने भी कला-कौशल में खूब उन्नति की। इसका प्रमाण यहाँ से उस समय की पायी गयी बहुत-सी मूर्तियाँ हैं जो गुप्त कला के सर्वश्रेष्ठ नमूनों में गिनी जाती हैं। मथुरा के संग्रहालय में प्रदर्शित भिक्षु यशदिन्न द्वारा बनाई गई भगवान् बुद्ध की प्रतिमा (A 5)(चित्र ६) इसी युग के महान् कला-कारों की पवित्र कृति है, जिसमें शांति और आनन्द के भावों का अनुपम सम्मिश्रण किया गया है। लेकिन सभ्यता तथा शांति की यह दशा अधिक दिनों तक न रह सकी और पाँचवीं शताब्दी के अन्त में मध्य एशिया के रहने वाले जंगली हूणों ने अपने नायक तोरमाण और मिहिरकुल के सञ्चालन में उत्तरी भारत को रौंद डाला और बली गुप्त साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर दिया। हूण लोग बौद्ध धर्म के कट्टर शत्रु थे इसलिए इन्होंने भारतवर्ष के समस्त बौद्ध स्थानों को लूटपाट कर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। मथुरा को भी इन आक्रमणकारी

हूणों की ध्वंसलीला का शिकार होना पड़ा और इस कारण यहाँ के कितने ही स्तूप, विहार, संघाराम आदि बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो गये। पर सौभाग्यवश हूणों की राज्यसत्ता अधिक दिनों न चल सकी और ई० सन् ५३० में बालादित्य और यशोधर्मा नामक राजाओं के नेतृत्व में उस समय के नरेशों के संघ द्वारा मिहिरकुल बिल्कुल परास्त कर भारत से निकाल दिया गया। इसके बाद यद्यपि हर्षवर्धन, ललितादित्य यशोवर्मन, मिहिरभोज आदि अनेकों प्रतापी नरेशों के राज्य में मथुरा रहा पर इस समय की कला के जो नमूने हमें मिले हैं वे इतने कम और हीन हैं कि उनके आधार पर मथुरा का ठीक-ठीक इतिहास गढ़ना असंभव सा है और जब हम उत्तर मध्य युग (१०००–१२००A. D) में पहुँचते हैं तो यह टिमटिमाता हुआ दीपक भी बुझ जाता है। हूणों के आक्रमण से मथुरा की सभ्यता को इतना प्रचंड धक्का लगा कि वह फिर यहाँ कभी नहीं पनप सकी। साथ ही साथ लोप हो गई यहाँ की वह सारी कला भी जो उत्तरी भारत में निरंतर ७०० वर्षों तक सूर्य के समान चमकती थी।

(आ) उत्तरकाल—इसके पश्चात् भारतीय इतिहास के साहित्य में मथुरा का जो उल्लेख हमें मिलता है वह महमूद गजनी के नवें आक्रमण से सम्बन्धित है। यह आक्रमण सन् १०१७ ई० में हुआ था, और इसका पूर्ण विवरण हमें अल-उत्बी की 'तारीख-इ-यमीनी' में मिलता है। कहा जाता है कि महमूद ने सर्वप्रथम बरन–आधुनिक बुलन्दशहर के किले को जीत कर, काफिरों के एक नेता कूलचन्द के किले को जीतने के लिए, पैर बढ़ाया। कूलचन्द एक शक्तिशाली नायक था। उसने महमूद से लड़ने के विचार से 'घने जङ्गल' में अपने सैन्य व हाथियों को संगठित किया परन्तु भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। अपने को पराजित हुआ जान कर उसने अपनी स्त्री को अपने ही हाथ से मृत्यु की गोद में सुला दिया, और स्वयं भी आत्महत्या कर ली। महमूद ने उसके शहर को खूब लूटा और मंदिरों को जिनमें कई लोहे के सिखचों से सुदृढ़ बनाये गए थे और जिनमें कितने ही बड़े-बड़े काष्ट स्तम्भों से परिवृत थे, जलाकर भूमिशायी कर दिया। यद्यपि इस अवतरण में मथुरा या महावन का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि उपर्युक्त ग्रन्थ में कूलचन्द के किले को 'संड' कहे जाने से तथा 'घने जङ्गल' शब्द के महावन के पर्यायवाची होने से यही

प्रतीत होता है कि इस वर्णन में मथुरा नगरी को ही इङ्गित किया गया है। इसके अतिरिक्त इस नगर का नाम 'महाल्तुलाहन्द' अर्थात जहाँ मन्दिर इत्यादि बड़ी सख्या में पाये जाते हो कहा गया है। जिसके आधार पर फरिश्ता इत्यादि यवन इतिहासकारो ने इसे मथुरा का ही रूपान्तर माना है।

इतिहासकारो के मतानुसार मथुरा इस समय ब्राह्मण धर्म विशेषत आधुनिक कृष्ण भक्ति का केन्द्र बन चुका था और इसी के फलस्वरूप महमूद को यहाँ के मन्दिरों में अतुल धनराशि मिली थी।

सन् १०१७ के पश्चात से अकबर के समय तक इस नगरी का इतिहास अज्ञात सा है। यवन शासकों के आतक के कारण मन्दिरों का समृद्धशाली होना प्राय रुक-सा गया था क्योंकि इनकी गृद्ध-दृष्टि से लेने वाले और देने वाले दोनों बचना चाहते थे। सम्भवत इसी-लिए जिस मथुरा नगरी में बौद्ध और जैन संस्कृति के अवशेष अब तक अगणित सख्या में पाये जाते हैं वहीं पर पौराणिक धर्म के मन्दिर आदि या उसके ध्वसावशेष बहुत ही कम दृष्टिगोचर होते हैं। तत्कालीन यवन इतिहास में इस नगरी के उल्लेख भी नाम मात्र हो को हैं। सिकन्दर लोदी (१४८८ १५१६) के शासन काल का वर्णन करते हुए 'तारीख इ दौदी' का लेखक कहता है कि बादशाह इतना कट्टर मुसलमान था कि उसने मथुरा के मन्दिरों का पूर्ण विध्वस कर उसमें की प्रतिष्ठापित मूर्तियों कसाइयो को बाटो के काम में लाने लिए दे दीं। पर वह इतने से ही सतुष्ट न रहा, उसने, मन बड़े-बड़े मन्दिरों को सराया में परिवर्तित कर दिया और हिन्दुओ के सारे धार्मिक आचार बन्द करा दिए।

जिस समय बाबर ने इब्राहीम लोदी को पराजित किया उस समय (१५२६) महाबन में मरघूब गुलाम सम्भवत शासक के पद पर था। जुबदत-उल तवारीख के लेखक शेख नूर-उल हक ने शेरशाह द्वारा आगरे से दिल्ली तक एक मार्ग बनवाये जाने के सिलसिले में मथुरा के उन जङ्गलो का भी उल्लेख किया है जिनमें रहने वाले डाकुओं का आतक फैला हुआ था। मथुरा के ये जङ्गल मध्यकाल में मुगल सम्राटों के आखेट के प्रमुख स्थान बने थे। अबुलफजल हमें बतलाता है कि किस प्रकार अकबर ने उसके एक नौकर के ऊपर

झपटने वाले शेर को धाराशायी किया था। जहांगीरनामे में भी ज्ञात होता है कि इन्हीं वनों में किस प्रकार एक शेर हाथी पर बैठी हुई नूरजहाँ की गोली का शिकार हुआ था। शाहजहां ने भी नदी के उस पार महावन में चार शेरों की बलि ली थी जिसका विवरण हमें शाहनामे में बड़े विशद शब्दों में मिलता है।

अकबर के उदार शासन काल में मथुरा पुनः उन्नति के सोपान पर चढ़ने लगा। इसी समय गोवर्धन और वृन्दावन के प्रमुख मन्दिरों का निर्माण हुआ। १५७० के लगभग वृन्दावन के सन्तों की कीर्ति इतनी अधिक फैली कि स्वयं मुगल-सम्राट् अकबर उनके दर्शन का लोभ संवरण न कर सका। उसकी आँखों पर पट्टी बाँध कर उसे वृन्दावन स्थित निधिवन के कुञ्जों में ले जाया गया और एक ऐसी चमत्कार झाँकी के दर्शन कराये गये कि हठात् उसे इस भूमि के पावित्र्य का लोहा मानना पड़ा। इसी समय कुछ सामन्त राजाओं ने वृन्दावन में मन्दिर निर्माण की बात चलाई और इस घटना के फल-स्वरूप श्री गोविन्ददेव, गोपीनाथ, जुगुलकिशोर और मदनमोहनजी के मन्दिरों का निर्माण हुआ। अकबर ही के शासन काल में अनेक शासन सम्बन्धी सुधार किये गये और हिन्दुओं को अनेक धार्मिक सुविधाएँ भी दी गईं।

जहाँगीर के राज्यकाल में मथुरा के इतिहास में कोई विशेष उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुए। इस काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना ओरछाधिपति वीरसिंहदेवजी द्वारा ३३ लाख रुपया लगाकर यहाँ एक बड़े मन्दिर के निर्माण की थी। इससे ज्ञात होता है कि जहाँगीर ने भी अपने पिता के ही समान हिन्दुओं के प्रति उदार नीति का अवलम्बन किया था। मथुरा से सम्बन्धित दूसरा उल्लेख जहाँगीर ने स्वयं किया है कि किस प्रकार उसने इस नगर के समीप विद्रोही राजकुमार खुर्रम, जो आगे चलकर शाहजहाँ के नाम से प्रसिद्ध हुआ, तथा उसके सेनापति सुन्दरराय और दरब को पराजित किया।

शाहजहाँ के राज्यकाल में भी मूर्तिध्वंस के अधिक उल्लेख नहीं मिलते। उसके समय के मथुरा के कुछ शासकों की नामावली हमें शाह-नामे में मिलती है, जिन्होंने कुछ सराएँ इत्यादि यहाँ बनवाईं परन्तु इससे मथुरा के इतिहास पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। शाहजहाँ

के राज्यकाल में यहाँ का अन्तिम शासक अलिवर्दीखान का पुत्र जाफर था।

मथुरा का इतिहास औरङ्गजेब के जीवन से दो प्रमुख घटनाओं के कारण सम्बन्धित है। प्रथम तो यह कि यहां उसके पुत्र महमूद सुलतान का जन्म हुआ था और दूसरे यहीं पर सन् १६५८ में उसने मुराद के साथ विश्वासघात कर उसे बन्दी बनाया और अन्त में उसके रक्त से रञ्जित हाथों से अपने राज्य की नींव डाली थी।

सन् १६६० में अब्द-उन-नबी यहाँ का शासक नियुक्त हुआ। उसकी बनवाई हुई मसजिद अब तक विद्यमान है। आधुनिक मथुरा की नींव इसी के द्वारा पडी। यह अब्द-उन नबी वही है जिसे यवन इतिहासकारों ने प्रथम सामूगढ के युद्ध में दारा का पक्षपाती बतलाया है। किन्तु कहा जाता है कि औरङ्गजेब के पक्ष को स्वीकार करने के एक सप्ताह बाद ही वह इटावा का फौजदार नियुक्त हुआ। तत्पश्चात् वह सरहिन्द भेजा गया और अन्त में मथुरा का शासक नियुक्त किया गया। मासीर इ-आलमगीरी के लेखक के कथनानुसार अब्द-उन-नबी सज्जन, धार्मिक व उत्तम शासनकर्त्ता था। इसकी मृत्यु एक स्थानीय विद्रोह के दमन करने में हुई और इसी घटना को महत्व देकर औरङ्गजेब ने मथुरा पर अपनी हिन्दुविद्वेषिणी तलवार उठाई, जिसके फलस्वरूप कितने ही अच्छे अच्छे मन्दिर नष्ट भ्रष्ट कर दिये गये। ओरछाधिपति के बनवाये हुए केशवदेवजी के तथा वृन्दावन के अन्य अच्छे अच्छे मन्दिरों के सुन्दर गगन चुम्बी शिखर औरङ्गजेब को फूटी आँखों भी नहीं सुहाते थे। अत उसने इन्हें धूलिधूसरित कर मासीर इ आलमगीरी के अनुसार मिथ्या देवताओं का नाश किया। इस धर्मानुष्ठान की पूर्णता मथुरा वृन्दावन के नामों को क्रमश इसलामाबाद और मोमीनाबाद में परिवर्तित करने पर हुई। किन्तु ये नये नाम बढती हुई पौराणिक धर्म की शक्ति के आगे चिरस्थायी न हो सके।

औरङ्गजेब की मृत्यु के पश्चात मुगल-साम्राज्य शिथिल होने लगा। इधर दक्षिण में मराठे अत्यधिक नोच-खसोट करने लगे थे। फर्रुखाबाद के बंगश नवाब मार खोआब पर हाथ साफ किये बैठे थे। उत्तर में रोहिले भी धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढाये जा रहे थे। इतना-

ही नहीं वरन् दिल्ली व आगरे के समीपवर्ती सरदार अपने को स्वतंत्र घोषित करने की सोच रहे थे। इनमें जिस शक्ति ने मुगल-साम्राज्य को उसके केन्द्र में ही सबसे अधिक छिन्न-भिन्न किया वह जाटों की थी। चूरमान नामक एक जाट नायक ने इस शक्ति की नींव डाली थी। उसने अपने में इतनी क्षमता उत्पन्न करली कि वह मुगल-साम्राज्य से टक्कर ले सके। जिस समय औरङ्गजेब के उत्तराधिकारी सिंहासन के लिए आपस में युद्ध कर रहे थे, उस समय जाट अपनी शक्ति संचित करने में संलग्न थे। कुछ ही समय में इनकी शक्ति इतनी बढ़ी कि फर्रुखसियर ने सिंहासन पर बैठते ही इन्हें अपनी ओर मिलाने के लिये चूरमान को बहादुरखान की पदवी से भूषित किया।

सन् १७२२ में ठाकुर बदनसिंह, जो चूरमान का भतीजा था, अम्बर के जयसिंह की सहायता से डीग में जाटों का राजा बना। उसने मथुरा जिले के सहार नामक गाँव में एक भव्य प्रासाद बनवाया और वह बुढ़ापे में यहीं पर रहने लगा। उसके ज्येष्ठ पुत्र सूरजमल के समय में जाट-शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँची। १७२५ में मराठे दिल्ली जीतने की लालसा से ग्वालियर प्रदेश तक बढ़ आये। दिल्ली के बादशाह ने मुहम्मद बंगश को उनके साथ लड़ने को भेजा। बंगशखाँ कई वर्ष तक मरहठों की बाढ़ रोके रहा। किन्तु सन् १७३४ में हार कर उसे पीछे हटना पड़ा। उस समय मराठों की अनेक टुकड़ियाँ आगरे के प्रदेश में घुस आई और लूटपाट मचाने लगीं। सन् १७३७ में दिल्ली के बादशाह ने सादतखां सफदरजंग के सेनापतित्व में एक बहुत बड़ी सेना भेजी जिसकी मुठभेड़ मराठों से इतमादपुर नामक स्थान पर हुई। इधर मराठों ने एक ओर तो शाही सेना से मुकाबला किया तथा दूसरी ओर डीग के रास्ते से दिल्ली पर धावा बोल दिया। यद्यपि इस हमले में मुग़ल सेना को काफी नुकसान हुआ तथापि मराठों को इससे कुछ भी लाभ नहीं हुआ और थोड़े ही दिनों बाद उन्हें वापिस लौटना पड़ा। मुग़लों और मराठों की इस मुठभेड़ में सूरजमल को अपनी शक्ति बढ़ाने का अच्छा अवसर मिल गया। परन्तु कुछ ही दिनों में सारे भारत में आपसी झगड़ों तथा नादिरशाह दुर्रानी के भयावह आक्रमण के कारण जो अस्थिरता पैदा हो गई थी उसके दुष्परिणाम मथुरा को भी भोगने पड़े और यह प्रदेश कभी मराठों द्वारा और कभी यवनों द्वारा आक्रमित होना

रहा। सन् १७६१ में पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ। इसमें मनोभेद के कारण सूरजमल ने मराठों का साथ नहीं दिया, फलतः युद्ध में मराठों की अत्यधिक हानि हुई और सूरजमल सुरक्षित रहा। इसी बीच उसने आगरे के किले पर धावा बोल कर खूब लूटपाट की तथा कुछ दिनों के लिये उसे अपने अधिकार में कर लिया।

सूरजमल के मरने के पश्चात् व्रज प्रदेश में बड़ी अस्थिरता उत्पन्न हो गई। १७७१ में मराठों ने भरतपुर को जा घेरा वहाँ पर भारी धन प्राप्त कर लेने के बाद वे मथुरा की ओर बढ़े परन्तु बीच में जाटों ने उन्हें पुनः घेर लिया इससे कुपित होकर मराठों ने उन्हें समूल उच्छेदित करने का बेड़ा उठाया। किसी प्रकार सत्तर लाख रुपया देकर जाटों ने अपनी जान बचाई तथा यमुना के पूर्व की ओर का प्रदेश अपने अधिकार में रखा। इसके उपरान्त सन् १७७२ में नजबखां ने मथुरा के भूभाग पर आक्रमण किया। इस समय जाटों को यवनों से अनेक युद्ध करने पड़े जिसमें अधिकतर जाट-शक्ति का ह्रास होता रहा और अन्ततोगत्वा सन् १७७४ में जाटों का स्वातन्त्र्य सूर्य कुछ काल के लिये अस्त हो गया। केवल करद राजा के नाते भरतपुर तथा उसके आसपास में दो लाख की आय का भू प्रदेश उनके हाथ में रहा।

१७७४–१७८२ तक मथुरा दिल्ली साम्राज्य का ही अंग बना रहा। परन्तु इसके पश्चात आन्तरिक समस्याओं के कारण दिल्ली के तत्कालीन वजीर अफरासियाबखाँ को मराठा सरदार माधोजी सिंधिया की सहायता लेनी पड़ी। माधोजी मराठों का शक्तिशाली नायक था। उसने अपनी सेना को यूरोपीय पद्धति से शिक्षित किया था। साम्राज्य विस्तार का ऐसा सुन्दर अवसर भला वह चूकता? उसने उसी समय दिल्ली के लिये प्रस्थान किया, परन्तु भाग्यवशात् वजीर की इन्हीं दिनों हत्या हो गई थी, अतः माधोजी को अनायास ही दिल्ली का अधिकार मिल गया। वहाँ के तत्कालीन परावलम्बी बादशाह ने माधोजी को अपना सेनापति बनाया और उसे दिल्ली तथा आगरे के सूबे का शासन प्रबन्ध भी सौंप दिया इसके बदले में माधोजी ने बादशाह को ६५००० रुपया मासिक देने का वचन दिया। इस प्रकार अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के पश्चात सिंधिया ने धन-संग्रह करने का विचार किया। इस उद्देश की पूर्ति के लिए

उसने राजपूतों से कर लेना और मुसलमानों की जागीरों को छीनना आरम्भ किया। इसके फलस्वरूप बहुतेरे मुसलमान जागीरदार उसके विरुद्ध हो गए। और उन्होंने सैन्यबल से विरोध करना प्रारम्भ किया। शाहीसेना भी जिसने अब तक सिन्धिया का साथ दिया था, उसके विरुद्ध हो गई। अब तो सिन्धिया ने अपने को अकेले पाकर दिल्ली पर राज्य करने का विचार त्याग दिया और ग्वालियर लौटना ही उचित समझा। १७८७ में विद्रोही यवन-नायक गुलामक़ादिर और इस्मायिलबेग़ ने आगरे के किले को घेर लिया। इस किले का संरक्षण माधोजी का सेनापति लखवादादा जाटों की सहायता से कर रहा था, परन्तु उसके छक्के छूटते देख माधोजी को सहायता के लिए बढ़ना पड़ा। फतेहपुरसीकरी के युद्ध में मराठों और जाटों की सम्मिलित सेना को यवन सेना से बुरी तरह परास्त होना पड़ा। इसके दो ही मास उपरान्त दक्षिण से राणाखान के नेतृत्व में सहायता आ गई और सिन्धिया ने पुनः आगरे के किले पर अधिकार प्राप्त कर लिया। अब इस्मायिलबेग़ और गुलामक़ादिर दोनों दिल्ली भागे परन्तु मुगल बादशाह ने उनका मुँह देखना भी अस्वीकार कर दिया। इससे क्रुद्ध होकर एक अङ्ग रक्षक की सहायता से उन्होंने वृद्ध बादशाह के नेत्रों की ज्योति छीनकर अपने को सदा के लिए कलंकित किया। इधर माधोजी ने शक्ति-संचय कर दिल्ली पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया।

मथुरा माधोजी का अत्यन्त प्रिय वास स्थान था। प्रारम्भ से ही गुसाईं हिम्मतबहादुर को उसने इसका प्रबन्ध सौंपा था। हिम्मतबहादुर के चातुर्य के कारण यवन विद्रोह के समय भी यह भू-प्रदेश पद-दलित होने बचा रहा। जब माधोजी मथुरा था उसी समय गुलामक़ादिर बन्दी बनाकर उसके सामने लाया गया और यहीं पर माधोजी की आज्ञा से उसकी गदहे पर उल्टे मुँह सवारी निकाली गई, अङ्गविच्छेद किया गया और उसी अवस्था में वह दिल्ली भेज दिया गया परन्तु मार्ग में मरता हुआ जानकर ले जाने वालों ने उसे एक वृक्ष पर लटका दिया।

इसके बाद सन् १८०३ तक मथुरा मराठों के अधिकार में रहा और उसके इतिहास में कोई विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। अतः

जाटों ने यवनों के विरुद्ध सिंधिया का बराबर साथ दिया था और इसके लिए माधोजी ने मथुरा-आगरा के ११ परगने उन्हें दे दिए। इसके परिणाम स्वरूप जाट भी सन १८०३ तक मराठों के मित्र बने रहे।

सन् १८०३ में पेशवा और अंग्रेजों में संधि हो गई। इसके फलस्वरूप सिंधिया और भोंसला दोनों को अंग्रेजों की शक्ति अत्यधिक बढ़ने का भय उत्पन्न हुआ और वे दोनों आपसी वैमनस्य को छोड़कर अंग्रेजों से लड़ने के लिए सन्नद्ध हो गये। ठीक यही बात अवध के नवाबों के साथ भी थी। मराठों की तरह उसे भी यह आशंका होने लगी कि अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति के कारण सम्भवत उसे दिल्ली, आगरा, मथुरा आदि के प्रदेशों का आधिपत्य न मिल पाये। इस कारण से वह भी अंग्रेजों से टक्कर लेने की तैयारी करने लगा। इस पर सन १८०३ में लार्ड लेक एक बड़ी सेना लेकर दोआब की ओर बढ़ने लगा। कानपुर और अलीगढ़ ले लेने के बाद वह दिल्ली की ओर बढ़ा और एक ही दिन में वहाँ अधिकार जमाकर तथा कर्नल डेविड ऑक्टरलोनी को वहाँ का रेजीडेण्ट नियुक्त कर उसने आगरे की ओर पैर बढ़ाया। इसी समय सन १८०५ में मथुरा सर्वप्रथम अंग्रेजों के हाथ लगा। कर्नल लेक ने सिंधिया को संधि करने पर बाध्य किया जिससे फलस्वरूप सिन्धिया को यह प्रदेश जिसकी आय कई लाख रुपयों की थी, अंग्रेजों को देना पड़ा।

इन दिनों होलकर शान्त पड़ा रहा। उसके हृदय में द्वन्द्व चल रहा था कि वह किसका साथ दे। यदि वह अंग्रेजों के विरुद्ध सिंधिया की सहायता देता तो उसे सिंधिया की शक्ति के अत्यधिक बढ़ जाने का भय था, और उसके विपरीत यदि अंग्रेजों की सहायता करता तो अंग्रेज शक्तिशाली बनते। अन्ततोगत्वा सिंधिया को अपने से अधिक शक्तिशाली बनने देना होलकर को अनुचित जान पड़ा और वह अकर्मण्य बना बैठा रहा। परिणाम यह हुआ कि आगे चल कर उसे भी स्वयं अंग्रेजों से दो हाथ करने पड़े। इधर उधर लूट मार करने के बाद उसने लार्ड लेक से संधि करने की इच्छा प्रकट की। परन्तु स्वयं उसके कुछ अनुचित काम के कारण संधि की बात टूट गई और दोनों ओर से युद्ध प्रारम्भ कर दिया गया। युद्ध का पलड़ा कभी इस ओर झुकता तो कभी उस ओर। इस युद्ध

में मथुरा अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण एक महत्व का सैनिक केन्द्र बन गया था। प्रथमतः कर्नल ब्राऊन ने उस पर अधिकार जमाया। परन्तु कुछ ही दिनों मे होलकर के दबाव के कारण उसे भागना पड़ा। परन्तु होलकर भी वहाँ अधिक दिनों न जम सका और लार्ड लेक के आक्रमण के फलस्वरूप उसे वहाँ से हटना पड़ा। उसके बाद होलकर ने दिल्ली को घेर लिया और लेक भी दिल्ली में घिरी सेना को सहायता देने चल पड़ा। इधर मराठी सेना ने जो इधर उधर छिप रही थी, डीग की ओर बढ़ना आरम्भ किया। इसी बीच कर्नल फ्रेसर एक बड़ी सेना लेकर गोवर्धन की ओर चल पड़ा। कुछ दिनो तक पड़ाव डालने के उपरान्त दोनो मे भयङ्कर युद्ध हुआ। युद्ध मे विजय अँग्रेजो के हाथ रही परन्तु उन्हें अपना सेनापति खोना पड़ा। उधर फर्रुखाबाद के युद्ध मे भी लार्ड लेक द्वारा होलकर पराभूत हुआ और उसे भागना पड़ा। इस पराजय के पश्चात् यद्यपि होलकर बहुत दिनों तक जीवित रहा तथापि उसकी धाक उत्तर भारत में कदापि न जम सकी। इस प्रकार सन् १८०५ से मथुरा अंग्रेजों के अधिकार मे आया और इसके बाद वह एक बहुत महत्व का सैनिक केन्द्र बना। १८२४ से यह शासन का भी केन्द्र बनाया गया।

१८५७ में मथुरा भी भारत के स्वातन्त्र्य-युद्ध से प्रभावित हुआ और उसने उसमें भाग लिया। उन दिनो यहाँ के कलेक्टर का नाम मार्क थार्नहिल था। मथुरा मे अंग्रेजो ने धन का अच्छा संग्रह किया था जिसे वे आगरे हटाना चाहते थे। परन्तु भारतीय सेना ने उस पर अपना अधिकार जमा लिया। अन्य स्थलो की भाँति यहाँ भी अंग्रेजो को पहले तो बुरी तरह हराया गया। परन्तु शहर के धनिको ने उनका पूरा साथ दिया। इसके फलस्वरूप सैनिक शिविर मे तो खूब उथल पुथल हुई परन्तु नगर छावनी की अपेक्षा शान्त रहा। थार्नहिल पहले तो साथियों को लेकर आगरे भाग गया था किन्तु बाद मे उन्हीं धनकुवेरो के आश्रय मे लौट कर शहर की आन्तरिक व्यवस्था को देखने लगा। उसने शनैः शनैः दमननीति का अवलम्बन किया और उसी के बल पर 'विद्रोही' मथुरा मे शान्ति स्थापित की गई। इसके अनन्तर उन धनिको को जिन्होंने संकट के समय अंग्रेजो का साथ दिया था उपहार में अनेकों जागीरें दी गईं। इसके अनन्तर मथुरा का इतिहास उन्नति का ही प्रतीक है।

२—धार्मिक इतिहास

(अ) पूर्वकाल—ब्रज से प्राप्त मूर्तियों, शिलालेखों, आदि से यहाँ का धार्मिक इतिहास भी संकलित किया जा सकता है। ईस्वी पूर्व की दूसरी शती से ई० सन् की छठी शताब्दी तक मथुरा उत्तरी भारत में बौद्ध, जैन तथा हिन्दू धर्म का एक प्रधान केन्द्र रहा और यहाँ के तत्कर भारतीय कला के विकास की प्रमुख धारा के तट पर खड़े होकर अपनी अनुपम कला का परिचय देते रहे। सबसे प्राचीन सस्मारक जो हमें इस स्थान से प्राप्त हुए हैं वे शुङ्ग काल के हैं। जिनसे हमें विदित होता है कि उस काल में ब्रज में हिन्दू, बौद्ध और जैन तीनों ही मतावलम्बी अपने २ धर्म का बिना किसी आपसी भेदभाव अथवा वैमनस्य के पालन करते थे। इस युग में बौद्धों ने बुद्ध तथा जैनों के तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ बनाना प्रारम्भ नहीं हुआ था। उनकी पूजा केवल चिह्न यथा, पद्म, स्तूप, बोधिवृक्ष, चरणपादुका, आदि से होती थी। किन्तु भागवत्-धर्म के अनेकों देवी-देवताओं की यथा शिव लिङ्ग, मुख लिङ्ग (चित्र ७) बलराम (चित्र ८), श्रीलक्ष्मी (चित्र ९) आदि की मूर्तियाँ बनना प्रारम्भ हो गई थीं। इसी समय पश्चिमोत्तर भारत (गान्धार) में यूनानी राजाओं का बोलबाला हुआ जिसके फलस्वरूप भारतीय कला में यूनानी देवताओं तथा यूनानी विषयों का भी चित्रण होने लगा। इस विदेशी कला का प्रभाव मथुरा की कला पर भी पड़ा जिसके फलस्वरूप हमें यहाँ से यूनानी विषयों यथा हरक्युलीस द्वारा सिंह का पछाड़ना (चित्र १०), मधुपान (चित्र ११–१२) आदि की मूर्तियाँ मिली हैं। ई० पूर्व की पहली शताब्दी में मथुरा पर शक क्षत्रपों का राज्य था। उनके एक लेख से ज्ञात होता है कि मथुरा में इस समय सर्वास्तिवादिन सम्प्रदाय की धाक थी। यह सम्प्रदाय प्राचीन थेरवादी सम्प्रदाय की एक शाखा थी। कहा जाता है कि जब पाटलिपुत्र के कुक्कुटाराम में थेरवादी और महासंघिक धार्मिक विषयों पर एक मत न हो सके तो थेरवादी बौद्धसंघ से अलग होगये और उन्होंने पश्चिमोत्तर भारत में अपना एक नया केन्द्र स्थापित कर लिया। उपरोक्त लेख से हम विदित होता है कि मथुरा में स्थित थेरवादी भिक्षुओं ने यहाँ के अपने प्रतिद्वन्दी महासंघिक आचार्यों को अपने सम्प्रदाय की बातें स्वीकार कराने के लिए एक प्रसिद्ध शास्त्रार्थी को नगर

(आधुनिक जलालाबाद) से बुलाया था। इस प्रकार धार्मिक उद्देश्य के लिए दार्शनिकों का विभिन्न स्थानों में यातायात प्राचीन भारत की एक विशेषता थी। अन्य लेखों से हमें पता चलता है कि आगे चल कर मथुरा में महासंघियों का ही बोलबाला रहा। महासंघिक दल की सबसे बड़ी देन भगवान् बुद्ध की मानवी रूपमें मूर्ति थी। इस समय उत्तरी भारत में कुषाण सम्राटों का राज्य था जो लगभग तीन सौ वर्षों तक रहा। भारतीय कला तथा मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से यह समय बड़ा ही क्रियात्मक था और इसी युग में मथुरा के कलाकारों ने बौद्ध, जैन और हिन्दू तीनों प्रमुख धर्मों के देवी-देवताओं को मूर्तिमान किया। इस युग की कला के लिए सम्पूर्ण मध्य भारत मथुरा का ऋणी था। कारण यहां के शिल्पियों द्वारा निर्मित मूर्तियाँ श्रावस्ती, कुशीनगर, साँची, कौशाम्बी, तक्षशिला, राजगृह, आदि सुदूर प्रान्तों को भेजी जाती थीं और उन्हीं के आधार पर वहाँ के तक्षक प्रतिमाएँ गढ़ते थे। इस काल में मथुरा में हिन्दुओं के साथ सभी प्रमुख देवी-देवताओं के यथा त्रिदेव, विष्णु, ब्रह्म, शिव-पुरुष तथा लिङ्ग दोनों विग्रहों में, अग्नि (चित्र १३), कार्तिकेय, कामदेव, भगवान् कृष्ण (चित्र १४), सूर्य (चित्र १५) तथा उनके अनुचर, दुर्गा, महिषासुर मर्दिनी पार्वती, बौद्धों के बुद्ध तथा बोधिसत्वों के तथा जैनों के चौबीसों तीर्थकरों (चित्र १६), मातृकाओं, आदि के स्वरूप निश्चत हो चुके थे। इसके बाद के ३०० वर्षों में भी, जिसे भारतवर्ष के इतिहास में गुप्तकाल कहते हैं और जो भारतीय धर्म, संस्कृति, कला आदि की उन्नति के लिए 'स्वर्ण युग' माना जाता है, इन देवी-देवताओं की अनेकों मूर्तियाँ बनती रहीं और कुषाणकाल में दिये गये रूपों का उत्तरोत्तर विकास होता रहा। गुप्त युग की एक विशेषता महाविष्णु अथवा विश्वरूप विष्णु (चित्र १७) की मूर्त्तियाँ थीं। इनमें विष्णु के तीन मुख होते हैं जिनमें बीच वाला मुख तो साधारण तथा अगल-बगल वाले मुख वराह और नृसिह के दिखाये गये हैं। मूर्तियों में पीछे प्रभामण्डल पर त्रिदेव, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नवग्रह, आदि चित्रित होते हैं। इसके पश्चात, हूणों तथा यवनों के हमलों के कारण मथुरा की राजनैतिक महत्ता फीकी पड़ गई और फलस्वरूप वह धार्मिक क्षेत्र में भी उतना उन्नत न रहा। आनन्द-कन्द भगवान कृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण वह केवल एक प्रसिद्ध तीर्थ तथा यात्रा स्थान बना रहा।

(आ) उत्तरकाल—

किन्तु अवनति की यह दशा बहुत दिना न रही और भारतवर्ष के मध्यकालीन धार्मिक इतिहास में मथुरा तथा वृन्दावन भक्तिप्रधान वैष्णवधर्म के लिए पुन सर्वप्रमुख केन्द्र बने और आज भी उसी चोटी के स्थान पर आसीन हैं। वैष्णव धर्म में प्रमुख तया निम्न चार सम्प्रदाय हैं—श्रीवैष्णव (२) निम्बार्क (३) माध्व और (४) विष्णु स्वामी या वल्लभ सम्प्रदाय।

(१) श्रीवैष्णव सम्प्रदाय बहुत दिनों तक के लिये वृन्दावन वासियों को अज्ञात सा ही था। इसका पदार्पण वहा पर श्री रंगजी के भव्य मन्दिर के निर्माण होने के साथ हुआ। यह सम्प्रदाय वैष्णवों में प्राचीनतम माना जाता है। इसकी नींव प्रसिद्ध संत रामानुजाचार्य (११–१२ शती) द्वारा डाली गई थी। इस सम्प्रदाय के अनुयाइयों के भालपट्ट पर सदैव बड़ा सा श्वेत और रक्त चन्दन का त्रिपुण्ड्र लगा रहता है। परन्तु अन्य लोगों की भाँति ये लोग राधा को आराध्या नहीं मानते। 'ॐ रामाय नम' उनका आदि मंत्र है। यह सम्प्रदाय वडकलई और तेन्‌कलई नामक दो उपशाखाओं में विभक्त है—इन दोनों के त्रिपुण्ड्र तथा सिद्धान्तों में किंचित भिन्नता है। श्री रंगजी के मंदिर की पूजा विधान तेंकलई शाखा के सिद्धान्तों के अनुसार है।

(२) निम्बार्क वैष्णवों का प्रमुख मंदिर मथुरा के समीप ध्रुव नामक टीले पर है। इस संप्रदाय के संस्थापक निम्बार्काचार्य नाम से विख्यात हैं क्योंकि इन्होंने अपने तपसामर्थ्य से अपने अतिथि के भोजन कर चुकने तक सूर्य को एक समीपवर्ती निम्बवृक्ष पर अवलम्बित होने को बाध्य किया था। निम्बार्क संप्रदायियों का कोई भी लिखित ग्रंथ नहीं मिलता। यद्यपि वे अपने सैद्धान्तिक मतों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं तथापि न तो वे अपने लेखकों तथा उनके मन्तव्यों को जानते हैं और न वे अपने सिद्धान्तों का पूर्ण विवरण ही दे सकते हैं।

(३) माध्व वैष्णव ब्रज भर में इतने विरल हुए हैं। और इनका कोई उल्लेखनीय मंदिर या केन्द्र नहीं है। इस सम्प्रदाय के आदि पुरुष मध्वाचार्य थे जिनका जन्म ११६६ में दक्षिण भारत में

हुआ था। कहते हैं कि इन्होंने नौ वर्ष की अवस्था में ही गीता पर भाषा टीका की थी। इस सम्प्रदाय के अनुयायी त्रिरेखात्मक त्रिपुण्ड्र लगाते है, जिसमे मध्यरेखा कृष्णवर्ण की होती है और पार्श्ववर्ती रेखायें श्वेत चन्दन की।

(४) विष्णु स्वामी सम्प्रदाय अव वल्लभ सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है और इसका प्राचीन नाम 'विष्णु स्वामी सम्प्रदाय' अव लुप्तप्राय हो गया है। कहा जाता है कि इसके सारे सिद्धान्त श्री गोकुल के गुसांई वल्लभाचार्यजी द्वारा आमूल संशोधित किए गए थे। अतः इस सम्प्रदाय के अनुयायी अव वल्लभ संप्रदायी ही कहे जाते है। वल्लभाचार्यजी का जन्म सन् १४७६ में चंपारण्य ग्राम मे हुआ था। शैशव के समाप्त होते-होते ही इन्होने अपना अध्ययन पूर्ण कर लिया था। दक्षिण मे प्रारम्भ से ही इनका प्रभाव खूब जमा। वल्लभाचार्य के हृदय में कृष्ण-भक्ति के कारण व्रज-प्रेम का स्रोत प्रारम्भ से ही वह रहा था। सन् १५२० मे इन्होने गोवर्धन मे श्री-नाथजी का मंदिर बनवाया। वालोपासना के मूल प्रवर्तक होने के कारण गोकुल पर इनकी विशेष प्रीति थी। इनका शिष्य संप्रदाय भी खूब बढ़ा और उन्होंने व्रज क्षेत्र भर से कितनी वैठकें तथा मन्दिर बनवाये।

इन चार प्राचीन संप्रदायों के अतिरिक्त वृन्दावन तीन अर्वाचीन संप्रदायो का भी वड़ा भारी केन्द्र है। ये संप्रदाय वंगीय या गौड़ीय वैष्णव, राधावल्लभी तथा स्वामी हरिदास के अनुयाइयों के है। इन तीनो संप्रदायो मे भी वंगीय वैष्णवो का सबसे अधिक प्रभुत्व वृन्दावन में है क्योंकि इस संप्रदाय के जन्मदाता चैतन्य महाप्रभु के शिष्य रूप और सनातन ने ही वृन्दावन को मध्यकालमे पुनरुज्जीवित किया था। चैतन्य का जन्म बंगाल के नाड़िया ग्राम मे १४८५ मे हुआ था। कहा जाता है कि इनका विवाह वल्लभाचार्य की कन्या से हुआ था। १४ वर्ष की अवस्था मे इन्होने लौकिक व्यवहारो से नाता तोड़ दिया और भगवदाराधना करने मे तत्पर हुए। मथुरा से जगन्नाथ तक के तीर्थाटन मे छः वर्ष व्यतीत करने के उपरान्त ये जगन्नाथ पुरी मे ही स्थित हुए और लोगों मे भगवत् कथा का प्रसार करने लगे। ४२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने देह

त्याग किया। इनके शिष्यों में अद्वैतानन्द व नित्यानंद तो जगन्नाथ में ही रह गये परन्तु अन्य छः गोसाईंयों ने वृन्दावन को अपना वास स्थान बनाया। चैतन्य संप्रदाय का मूल तत्व कृष्ण-नाम का सङ्कीर्तन में ही निहित है। तुलसी की माला व नासिका से भालपट्ट के ऊपरी भाग तक लगा हुआ श्वेत चन्दन का तिलक इस संप्रदाय के अनुयायियों के विशेष चिन्ह हैं। चैतन्य संप्रदाय के वृन्दावन वासी आचार्यों के अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं। श्रीरूप, सनातन, श्रीजीव गुसाईं, आदि इस पन्थ के प्रमुख आचार्य थे।

राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक का नाम 'हरिवंश' था। इनके पिता का नाम व्यास व माता का तारा था। हरिवंश जी ने अपने आयुष्य के आरम्भकाल को वृन्दावन ही में बिताना उचित समझा। मार्ग में इन्हें एक ब्राह्मण मिला, जिसने अपनी दो कन्याओं तथा श्री राधावल्लभजी की एक प्रतिमा को भगवान् की आज्ञा व अनुसार उन्हें समर्पित करना चाहा। हरिवंशजी ने तीनों को स्वीकार किया और प्रतिमा को वृन्दावन में स्थापित किया और यहीं से राधावल्लभी संप्रदाय का प्रारंभ हुआ। यही हरिवंश, श्री हितहरिवंश के नाम से भी विख्यात हैं। इनके सबसे प्रसिद्ध शिष्य ओरछा के व्यासजी थे जिनके विषय में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। प्रसिद्ध लेखक व कवि ध्रुवदास जी हरिवंशजी के प्रमुख शिष्यों में थे। इनके लगभग ६० ग्रन्थों के नाम ज्ञात हैं।

तृतीय संप्रदाय के जन्मदाता स्वामी हरिदासजी थे इस सम्प्रदाय के महन्तों को विवाहादि करने की सुविधा है। वृन्दावन में बिहारीजी का मन्दिर इनका प्रमुख केन्द्र है। सारे भारत में यही एक मन्दिर पूजा पाठ के अधिकार में है। सजावट, शिल्पकला इत्यादि की दृष्टि से यह एक अपूर्व वस्तु है। स्वामी हरिदास का जन्म सं० १५९० में हुआ था। बचपन से इनका ध्यान पूजा की ओर अधिक था। २५ वर्ष की अवस्था में विरक्त हो घर से निधिवन में तपस्या करने लगे और यहीं अन्त तक संप्रदाय के प्रचार का कार्य। इनकी शिष्य परम्परा, इसमें बड़ा भक्त गुणी के शिष्य [illegible] प्रकार शिष्याँ भी प्रचलित हैं। सुप्रसिद्ध संगीत प्रसिद्ध गायक तानसेन इन्हीं का शिष्य था। बिठ्ठलविपुल इनके पहले शिष्य थे। [illegible] के अनुसार इनकी मृत्यु संवत् १६३०

में हुई जो अशुद्ध है। क्योंकि उस समय तानसेन का आश्रयदाता सम्राट् अकबर जो हरिदासजी का गायन सुनने के लिए वृन्दावन आया था सिंहासन पर आसीन भी नहीं हुआ था। यह माना जा सकता है कि हरिदास का समय ईसा की १६-१७वीं शताब्दी में था।

इन प्रमुख संप्रदायों के अतिरिक्त मलूकदासियों का तथा प्राणनाथियों का भी अड्डा ब्रजप्रदेश है यद्यपि ये पंथ अत्यन्त सीमित और साधारण कोटि के हैं।

ब्रज की लिपि और लेख

[श्री कृष्णाचार्य एम० ए०, साहित्य-रत्न]

ब्रज का नाम भारत में सुप्रसिद्ध है। प्रसिद्धि का मुख्य कारण श्रीकृष्ण हैं। इस तथ्य में सन्देह नहीं, किन्तु गम्भीर साहित्य और इतिहासज्ञ जानते हैं कि शूरसेन प्रदेश श्रीकृष्ण के समय से भी पूर्व प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। भारत के शासकों की पीढ़ियों में दो वंशों का नाम प्रसिद्ध है—मनु से सूर्यवंश और एल से चन्द्रवंश की गाथा ही भारत का प्राचीन इतिहास है। दूसरे वंश में चक्रवर्ती यदु हुए। उन्हीं का प्रतापशाली रक्त यादव वंश के नाम से बहुत बड़े काल तक स्थायी रहा। यह यदुवंश वैदिक था, वेद में शूरसेन प्रदेश का पता नहीं लगता, लेकिन इतना निश्चित है कि श्रीकृष्ण से भी कई शताब्दी पूर्व ये यदुवंशी ब्रज को अपनी मातृभूमि बना चुके थे।

इन यदुरक्त के सम्राटों ने ब्रज की बहुत सेवा और उन्नति की। यहाँ के जङ्गलों को काटा तथा नगर और ग्रामों का निर्माण किया। मानवधर्मशास्त्र में मध्यदेश के कई आदर्श जनपदों में शूरसेन का नाम है और बताया है कि यहाँ के आर्यों का चरित्र और सभ्यता अनुकरणीय है। ब्रज के वीर महाभारत युद्ध में अनुकरणीय पराक्रम दिखला गये थे। जिस समय भीष्म पाण्डवों से युद्ध कर रहे थे उस समय शूरसेन के योद्धाओं को प्रधान सेनापति भीष्म की अंगरक्षा का भार सौंपा गया था। द्रोणाचार्य तो इन पर इतना विश्वास रखते थे कि अपने नायकत्व में उन्होंने शूरसेनी वीरों को कुरुक्षेत्र की प्रथम पंक्ति में रखा था।

संस्कृति और क्षत्रियत्व के क्षेत्र में पृथक कला पक्ष पर भी अगर हम दृष्टिपात करें तो ज्ञान होता है कि मौर्य काल से भी एक पीढ़ी पहिले से लेकर शुंग और कुषाण युगों में होते हुए नाग राजाओं के तथा और भी आगे चल कर गुप्त सम्राटों की छत्र छाया में ब्रज ने जो कलात्मक अभिव्यक्ति की वह समस्त भारतीय राष्ट्र के अभिमान की वस्तु है।

भाषा और लिपि

ब्रज ने भाषा और साहित्य पर भी अपनी विशिष्टता की छाप लगाई है। शौरसेनी शैली और भाषा का आदर तो बड़े बड़े काव्य शास्त्रियों ने किया ही था किन्तु यह सर्व विदित है कि उत्तरी भारत की मागधी और शौरसेनी दो प्रधान भाषाओं में से दूसरी ने परम्परा को जीवन दान देने में बहुत काम किया। देवानांप्रिय अशोक के समय प्रचलित ब्राह्मीलिपि में लिखी जाने वाली बोलचाल की भाषा से कुछ समय उपरान्त प्रान्तीय भेद बढ़ने लगा। भाषा के साथ साथ लिपि में भी यह भेद दृष्टिगोचर हुआ। शूरसेन प्रदेश भाषा-गौरव के साथ साथ लिपि वैशिष्ट्य को भी न भूला। रणकुशलता, कलाप्रियता तथा आचार-विचारों की सभ्यता के साथ साथ समस्त ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति के साधन लिपि द्वारा ब्रज ने अपना मस्तक किस प्रकार ऊँचा रखा यह बात बहुत कम लोगों को मालूम है। भारत की प्रधान राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी के विकास में ब्रज ने किस प्रकार गौरवमय भाग लिया, हम यहाँ कुछ विस्तार के साथ इस विषय की चर्चा करेंगे।

ब्राह्मी का संक्षिप्त इतिहास

भारतीय परंपरा में यह चर्चा बराबर मिलती रही है कि भारत की राष्ट्रीय लिपि का नाम ब्राह्मी था। लेकिन यह लिपि कैसी थी, किस तरह लिखी जाती थी तथा इसका प्रयोग भारत के किस किस स्थान में होता था इनमें से किसी एक प्रश्न का भी समाधान नहीं हो पाता था। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में इस लिपि का पता लग गया। इस खोज का इतिहास अत्यन्त आकर्षक तथा हमारे लिये शिक्षा का विषय है।

बात यह थी कि इतिहासकारों को अशोक के शिला लेख तथा स्तंभ लेख बराबर मिलते जाते थे, लेकिन यह किसी को पता न था कि इन पर ब्राह्मी लिपि में पाली भाषा अंकित है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों जिज्ञासुओं को इनके रहस्य को जानने की अधिकाधिक उत्कण्ठा बढ़ी। प्रयत्न तो फीरोजशाह तुगलक के समय से ही प्रारंभ हुआ, लेकिन उस समय पुरातत्वशास्त्र का जन्म

भी नहीं हुआ था। फिर भला लिपि कैसे पढ़ी जाती ? फिर भी, ई० सन १३५६ में फीरोज ने मेरठ और तोपरा (फिरोजाबाद) में अशोक की दो लाटों को राजधानी लाने की आज्ञा दी। किन्तु शिशिर साथियो! बयालीस फुट लम्बी तथा दो सौ मन से भी अधिक भारी लाट को लाया कैसे जाय ? भारी समस्या थी विशेषकर उस समय कठिनाई का अनुमान हम कर सकते हैं कि जब कि क्रेनों का नाम भी न था। रेल, मोटर का सहारा भी न था। लेकिन फिर भी चुनार के बलुई पत्थर के पचीसों खम्भ जब भारत के प्रत्येक कोने में आज से सवा दो हजार वर्ष पहले पहुँचाये जा सकते थे तब फीरोजशाह मेरठ से दिल्ली तक की दूरी पर शाही शक्ति पर बट्टा नहीं लगने देना चाहता था। सौभाग्य से, इन खम्भों के लाने का विस्तृत वर्णन उस समय के प्रसिद्ध इतिहासकार शम्सेसिराज ने किया है। उसका मत था कि—

"यह दोनों स्तम्भ पाँडवों के समय से खड़े हुए हैं। लेखक ने बहुत से अच्छे इतिहासकारों की पुस्तकें पढ़ी हैं और उनमें उसने जाना है कि ये दोनों खंभे भीमसेन की छड़ियाँ थीं। इनको लेकर वह टहलने जाया करता था। उस आदमी का डीलडौल विशाल था। काफिरों की पुस्तकों में लिखा है कि भीम नित्य एक सहस्र मनुष्यों को निगल जाया करता था।"

"जब खँभे को खोद कर नीचे रखने के अच्छे से अच्छे उपाय सोच लिये गये तब अड़ोस-पड़ोस के आदमियों, पैदल तथा घुड़सवारों तक को वहाँ आने की आज्ञा मिली। वह सब अपने अपने औजार लेकर आए। जब सब आ गये तब धरती में रूई बिछाई गई। खंभे के नीचे स्थान चारों ओर से खोद कर रस्सियों के सहारे खँभे को धीरे-धीरे लिटा दिया गया उसे खाल और पत्तियों से ढक दिया गया।"

"बयालीस पहियों की एक वृहत गाड़ी बनी। हर पहिये में एक-एक रस्सी बँधी। इसके उपरान्त खंभों को मोटे मोटे रस्सों के सहारे हजारों आदमियों ने उठा कर धीरे से गाड़ी पर रख दिया। प्रत्येक पहिये की रस्सी पर दो सौ श्रमिक लगे और खंभे को यमुना के किनारे लाए। सुल्तान इस अवसर पर खँभे को देखने आए। मेरठ नावें इकट्ठी हुईं। और फिर बड़ी बुद्धिमानी से उसे नाव पर रख दिया गया। इस तरह भीमसेन की छड़ी को यथास्थान रख दिया गया।"

"उसे पुनः सीधा खड़ा कर गाड़ने की चिंता हुई। हज़ारों आदमियों ने मोटी-मोटी रस्सियों के सहारे आधा गज धरती से उठाया और फिर उसके नीचे लकड़ियाँ लगादी गई इसी तरह धीरे-धीरे कई दिनों में सीधा कर स्थापित किया गया।"

"खंभे के नीचे के भाग में कुछ लिखा था। इसे पढ़ने के लिये बहुत से हिन्दू और ब्राह्मण बुलाये गये, पर उस पर अंकित लिपि को कोई न पढ़ सका। कहा जाता है कि कुछ काफिरों ने सुल्तान से कहा कि यह पाँडवों के समय से यहीं खड़ा है, बहुत से सम्राट् इसे अपने अपने यहाँ लेजाने की चेष्टा करेंगे, किंतु फीरोजशाह के अतिरिक्त और कोई इस कार्य में सफल न हो सकेगा।"

हाँ, तो मैं लिपि पढ़ने की बात कह रहा था? प्राचीन भारत के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने लिखा है कि ई० सन् की चौदहवीं शताब्दी के पहले ही अपने देश की प्राचीन लिपि ब्राह्मी तथा उससे निकली हुई ई० सन् की ६ वीं शताब्दी की लिपियों का पढ़ना लोग भूल गये थे, किन्तु पिछली अर्थात् ७ वीं शताब्दी से इधर की लिपियाँ संस्कृत और प्राकृत के विद्वान, जिनको प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों के पढ़ने का अभ्यास था, प्रयत्न करने से पढ़ सकते थे।

कहा जाता है अकबर ने भी इसे पढ़वाने का निष्फल प्रयत्न किया। सन् १६१५ में यूरप से टाम कारयट नामक यात्री आया। उसने भी इसे देखकर अपनी बुद्धि की परीक्षा की और कहा 'इस खंभे में यूनानी भाषा लिखी है।' उसके मत से यह लेख और स्तम्भ सिकंदर ने बनवाये थे। साथियो! आज हम भले ही इन विदेशी वक्ताओं के विचारों का उपहास करें, किन्तु यह बात विचारणीय है कि पुराने यूरोपीय सज्जन भी भारतवासियों को अक्ल से दूर समझते थे, और समझते थे कि उत्तमकोटि के कार्य तो हम ही कर सकते हैं।

विस्मृत लिपि की खोज

भारतीय इतिहास की प्राचीन सामग्री के अनुसंधान की दृष्टि से ई० सन् १७८४ का समय प्रत्येक इतिहास प्रेमी को याद रखना चाहिये। क्योंकि उसी वर्ष १५ जनवरी के दिन सर विलियम जोन्स ने एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना कराई। इस समय तक यूरप के

विद्वान् सस्कृत साहित्य से प्रभावित हो चुके थे तथा जर्मनी, फ्रांस और इंगलण्ड के सस्कृत प्रेमी भारत का चक्कर लगाने लगे थे। यही समय था जब कि भूली हुई लिपि को पढने का प्रयत्न वैज्ञानिक ढङ्ग से प्रारम्भ हुआ।

अशोक के लेख पढना आसान न था। सबसे प्रथम चार्ल्स विल्किन्स ने बगाल के राजा नारायणपाल के लेख पढे। इसके उपरान्त राधाकान्त शर्मा ने दिल्ली मे चोहान राजाओ के तीन लेख पढे। कन्नौज मे मोखरी वश का राजा अनन्तवर्मन हर्ष से पहिले ही राज्य कर चुका था। उसके लेख जे० एच० हेरिङ्गटन ने अत्यन्त परिश्रम के बाद पढे। उपरोक्त अभिलेख नागरी से मिलते जुलते थे, अत उनका पढना कुछ कठिन न था। मुख्य कठिनाई गुप्त और मौर्य राजाओ के लेखो को पढने मे हुई। क्योंकि एक वश आज से पन्द्रह शताब्दी पूर्व राज्य कर चुका था, दूसरा तेईस शताब्दी पूर्व। गुप्त सम्राटों की ब्राह्मी लिपि की खोज मे चार्ल्स विल्किन्स ने हाथ लगा दिया था किन्तु इसकी पूरी वर्णमाला का पता कप्तान ट्रायर, डा० मिल और प्रो० प्रिंसेप ने ही कठोर परिश्रम के उपरान्त लगाया। इन तीनों म भी प्रिंसेप का नाम भारत की राष्ट्रीय लिपि के पुनरुद्धार की दृष्टि से अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है।

अशोक की लिपि की खोज

अशोक कालीन ब्राह्मी लिपि की खोज का इतिहास और भी अधिक मनोरजक है। विद्वान् इसकी वर्णमाला का पता लगाने मे सलग्न थे कि सन् १८३६ में मी० एच० लेसन को अगाथोक्लिस नामक यूनानी राजा का सिक्का हाथ लगा। यह राजा भारत के सीमान्त प्रदेश मे मीनान्डर के उपरान्त राज्य करता था। इस मुद्रा म एक ओर तो यूनानी अक्षरो में 'अगाथोक्लियस' लिखा था और दूसरी ओर ब्राह्मी लिपि म कुछ लिखा था। बस, लेसन ने सोचा कि हो न हो दूसरी ओर भी यही नाम है। अत इतने अक्षरो का पता लग ही गया—र ज अ ग थु क य स। जर्मनी के भाषा शास्त्री ब्यूहलर ने लिखा है कि महाशय प्रिंसेप ने प्राय सब अक्षरो का पता लगा लिया था, उसने 'उ' और 'ओ' को पहिचानने म ही गलती की। श्री ग्रियर्सन महो

देश का निवासी था। घुटनों के नीचे लिखी भारतीय लिपि ही परोक्ष रूप से उसके बौद्ध धर्मावलंबी होने का आभास देती है। कुषाण-कालीन लिपि राजपूताना और साँची मे प्राप्त हुई है।

यहाँ कुषाण राजाओं के समय का संकेत करना आवश्यक है। इतिहास मे कालनिर्णय की दृष्टि से सबसे अधिक विवाद का विषय कनिष्क है। कनिष्क के सम्बन्ध मे ६-७ स्थापनाएँ हैं। जिनमें कनिष्क को सबसे पीछे लेजाने वालो मे वे लोग हैं जो उसे ५७ ई० पूर्व में मानते हैं, दूसरी ओर वह विद्वान है जो उसका समय १५० ई० बताते हैं, शेष स्थापनाएँ इनके बीच की है दोनों स्थापनाओं के बीच में दो सौ वर्ष का अन्तर। कनिष्क का निर्णय न होने से कनिष्ककालीन लिपि के काल का निर्णय करना भी अत्यन्त कठिन है।

५—गुप्त राजाओं की लिपि

गुप्त सम्राटो की स्वर्ण मुद्राओ से स्पष्ट है कि कुषाण कालीन लिपि का विकास गुप्त सम्राटों के समय हुआ, और इस तरह हम कह सकते है कि कुषाण राजाओं के समय की लिपि अशोक और गुप्त-सम्राटों के मध्य के समय की द्योतक है। गुप्तमुद्राओ मे कुषाणकालीन कोणीय 'य' तो चलता ही था।

व्रज भाग्यवान् है कि वह गुप्तकालीन लिपि का प्रतिनिधित्व भी करता है। इनमे एक तो वह है जिसका सम्पादन व्यूलर ने जैन अभिलेखों के साथ किया है, यह भी जैन लेख ही है। किन्तु सब से प्रसिद्ध वह लेख है जो 'चन्द्रगुप्त द्वितीय का स्तम्भ लेख' के नाम से प्रसिद्ध है। इस लेख में गुप्त संवत् ६१ अङ्कित है। यह ई० सन् ३८० में सम्पादित हुआ था।

भाषाशास्त्र-विदों ने गुप्त लिपि के दो भेद किये हैं—पूर्वी शैली और पश्चिमी शैली। भेद का आधार ल, ष, ह का भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखा जाना है। महाशय फ्लीट ने गुप्त सम्राटो के लेखो का प्रामाणिक सम्पादन प्रकाशित किया है। उसमे दोनो ही शैलियों के नमूने पर्याप्त संख्या में हैं। पूर्वीय शैली का प्रसिद्ध उदाहरण मन्त्री हरिषेण रचित समुद्रगुप्त की प्रयाग वाली स्तम्भ प्रशस्ति है। इतिहास और साहित्य की दृष्टि से तो इस लेख का महत्व अभूतपूर्व

है। आपको यह जानकर आश्चर्य, कौतूहल और आह्लाद होगा कि समुद्रगुप्त की यह प्रशस्ति देवानाम्प्रिय अशोक के स्तम्भ पर ही उत्कीर्ण है—इस ऐतिहासिक स्तम्भ में एक ओर अशोक का 'धम्मघोष' सुरक्षित है तो दूसरी ओर समुद्रगुप्त का 'भेरी घोष' मुद्रित है।

मथुरा वाला चन्द्रगुप्त का लेख पश्चिमी लिपि शैली का उदाहरण है। यह लेख मथुरा में चाण्डूल माण्डूल की बगीची से प्राप्त हुआ था। पश्चिमी लिपि शैली के भी दो भेद हैं—कोणीय और गोलाकार। चन्द्रगुप्त द्वितीय का लेख कोणीय भेद का उदाहरण है। ब्रज में गोलाकार लिपि का उदाहरण नहीं मिलता, हाँ, पास ही में, दिल्ली में महाराजा चन्द्र का लौह-स्तम्भ इस भेद का सुन्दर उदाहरण है।

नागरी

ब्राह्मी लिपि की एक विशेषता यह भी थी कि अक्षर शब्दों के साथ सटाकर लिखे जाते थे, ठीक आज की तरह शिरोरेखा देने की चाल न थी। लेकिन सातवीं शती के अन्त में शिरोरेखा देने की प्रणाली ने जोर पकड़ा, और समय के साथ परिवर्तित ब्राह्मी शिरोरेखा के साथ नागरी कहलाने लगी। यों आठवीं और नवीं शताब्दी की नागरी से आज की नागरी का मिलान किया जाय तो बहुत अन्तर मालूम होगा। लेकिन हाँ दो चार दिनों के ही अभ्यास से इस नागरी को पढ़ने में सुभीता हो सकता है तथा यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

(२)

एक बात और। नागरी का विस्तार दक्षिणी भारत और उत्तरी भारत में ही नहीं हुआ। दसवीं शताब्दी से गुजरात, राजपूताना, उत्तरी दक्षिणी भारत में ताड़-पत्रों पर लिखी लिपि एकदम नागरी है। इतना ही क्यों, उसी समय के नेपाल में प्राप्त हस्त लिखित ग्रन्थों की लिपि नागरी है। नागरी के इस विस्तार का एकमात्र कारण यही था कि वह ब्राह्मी की एकमात्र स्वाभाविक उत्तराधिकारिणी लिपि थी। इस दृष्टि से राष्ट्र लिपि के लिये अगर नागरी का नाम आगे रक्खा जाता है तो यह सर्वथा उचित है क्योंकि उसके औचित्य का रहस्य दृढ़ भूमि पर स्थित है।

अजयपाल का लेख : सं० १२०७

किन्तु इस समय के अभिलेख ब्रज के गर्भ में अवश्य ही छिपे पडे होंगे। मेरे इस अनुमान की पुष्टि कनिंघम महोदय के इस कथन से होती है कि सातवीं शती में प्रसिद्ध मथुरा एक बड़ा साम्राज्य की राजनगरी थी, उस समय ह्वेन सॉंग ने इसका विस्तार ८३३ वर्ग मील लिखा है। कनिंघम लिखते हैं कि अगर चीनी यात्री के कथन को हम सत्य मान लें तो मथुरा का विस्तार दक्षिण में आगरा से भी और दूर इसकी सीमा नरवर और शिवपुरी तक माननी होगी और पूर्व में सिंध। इतने विस्तृत साम्राज्य के प्रतीक-प्रमाण अवश्य छिपे पडे हैं।

मध्यकालीन नागरी में अजयपाल की प्रशस्ति उल्लेखनीय है। यह केशवदेव के टीले पर प्राप्त हुई थी। तीस पंक्तियों में यह शुद्ध संस्कृत का लेख है। कई दृष्टियों से यह लेख महत्वपूर्ण है। नागरी का उदाहरण तो है ही—दूसरी बात यह है कि यह सं० १२०७ (=1149-51 A D) में पाल और कुलधर कवि ने यह प्रशस्ति गाई थी तथा सोमल ने इसको पत्थर की लकीरों में जड़ दिया। यह अजयपाल इतिहासकारों के मत से बयाना—श्रीपथा के यदुवंशी क्षत्रिय थे, इस लेख में छोटी सी क्षत्रिय वंशावली सुरक्षित है। ब्रज के लेखों में यही लेख ऐसा है कि जिसमें राजा का नाम, संवत, प्रशस्तिकार तथा शिल्पी का नाम भी स्पष्ट रूप से अंकित है।

उपसंहार

आपने देखा कि ब्रजभूमि ने इतने अभिलेख भारतीय इतिहास को समृद्ध करने के लिये दिये हैं। आपने यह भी देखा कि ये लेख भारतीय परंपरा की अधिकांश कड़ियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, अर्थात् ब्रज से प्राचीन भारतीय लिपि का इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। इस अवसर पर हमको यह बात नहीं भूल जानी चाहिये कि तक्षशिला, नालंदा, सारनाथ, अहिच्छत्र या मोहेंजोडरो की भाँति ब्रज में पुरातत्वज्ञों ने वृहत प्रयत्न नहीं किये हैं। अभी तक की सामग्री तो फुटकर प्रयास का ही शुभ परिणाम है। अनेक इतिहासकारों की तरह मेरा भी यह दृढ विश्वास है कि अगर ब्रजभूमि में बड़े पैमाने पर खुदाई का कार्य किया जाय तो अकेला ब्रज भारत की लिपि का पूर्ण इतिहास प्रस्तुत करने में तो समर्थ होगा ही,

साथ ही उन राजवंशों का पता भी लगेगा जिनका अंकन भर पुराणों मे हुआ है या उन राजाओं का विस्तृत इतिहास प्रस्तुत हो सकेगा जिनका नाम हमें मथुरा मे प्राप्त कुछ सिक्कों पर मिला है।

आधुनिक अनुसंधानो से इस विश्वास की पुष्टि ही हुई है कि मथुरा प्राचीन काल मे राजनीति और संस्कृति का केन्द्र रहा है। वैदिक-काल से चला आता हुआ यादववंश बहुत काल तक अपने शासन की केन्द्रीय भूमि मथुरा को बनाये रहा। मथुरा की भौगोलिक स्थिति ही ऐसी है। अपने पश्चिम के प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र मालवा तथा उसकी राजनगरी अवन्तिका से द्वितीय शासन केन्द्र मगध का मार्ग मथुरा होकर ही है। मथुरा दिल्ली से ही उत्तर मे तक्षशिला जाने का रास्ता है। दक्षिण भेदन के लिये भी प्राचीन भारत मे मथुरा होकर जाना ही ठीक पड़ता था। अतः जो सम्राट् मथुरा को पकड़ लेते थे वह आसपास की चारों ओर की परिस्थितियों से लाभ उठा सकते थे। लेकिन, आज का पुरातत्व भी मथुरा के इतिहास पर गंभीर और उद्घाटनकारी समाचार देने मे समर्थ नहीं है। कुषाणवंश की उत्पत्ति, उनका शासनकाल, आदि सब कुछ सन्देहास्पद है। नाग-राजाओं के सम्बन्ध में भी पुराणों के सहारे भी हम कितना जान पाये है ? सिक्कों से प्राप्त राजाओं के नाम भी आज तक की स्थिति में मृतप्राय: हैं और यह स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक कोई क्रांतिकारिणी खोज न हो। मथुरा का राजनीतिक वैभव आज भी अंधकाराच्छादित है, मानो मथुरा में महान् केन्द्रीय सत्ताओं का अभाव ही रहा हो। मथुरा का सारा प्राचीन वैभव ब्रज की रज में सुप्त और लुप्त है।

लिपि और भाषा की दृष्टि से भी, ठीक राजनीतिक दारिद्र्य की तरह, ब्रज में कुछ काम नहीं हुआ है। यह तो हम जानते ही हैं कि ब्रज ने शौरसेनी शैली को जन्म दिया, तथा उसीसे कदंबखंडियों, पुलिनो और करील वेष्टित कंकरीली डगरों मे रहने वाले ब्रजवासियो द्वारा संस्कृत के समान मधुर और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा का जन्म हुआ है। जिस समय ब्रजभाषा का उत्थान हो रहा था उस समय अन्य प्रान्तो की भाषाये भी स्वस्थ अँगड़ाई ले रही थीं, लेकिन यह गौरव ब्रजभाषा को ही प्राप्त है कि वाणी का सिद्ध आह्वान उसी से संभव हुआ। यह साहित्य अपने आप मे तो धनाढ्य और गतिशील

था ही, साथ ही उसने अपनी शक्ति से सौराष्ट्र से लेकर वग देश तक तथा पञ्चनद् से लेकर नर्मदा के पार तक रस म निमज्जित होने वाले 'जनों' की आत्मा को गुनगुनाया। और आपको यह भी ज्ञात होगा उसी शौरसेनी अपभ्र श प्रसूता व्रजभाषा स कालान्तर म पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी का भेद खडा हुआ, और उसी पश्चिमी हिन्दी को आज हम खडीबोली, हिन्दी या राष्ट्रभाषा के नाम से स्मरण करते हैं। रासो का अध्ययन करने वाले जानते हैं कि खड़ीबोली के रूप उसमे मिलते हैं, और आगे चल कर व्रजभाषा के साथ-साथ खड़ीबोली का विकास खुसरो की भाषा मे देख पडता है। खडी बोली और व्रजभाषा के मूल म एक ही भाषा है और एक ही साहित्यिक परम्परा है। व्रजभाषा तो शीघ्र ही प्रतिष्ठित पद पर पहुँच चुकी थी। लेकिन यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि खड़ीबोली का लोग गॅवारू बोली, या भाषा कह कर दुतकार दिया करते थे। ऐसे आडे समय मे व्रजभाषा खडीबोली का वर्धन और सस्करण करती रही। खड़ीबोली के लालन-पालन म व्रजभाषा का प्रमुख हाथ है और इस तथ्य की सचाई को जानने के लिए हमे कबीर से लेकर आज तक के सतो की वाणियों की छानबीन करनी होगी। वार्ताओं का अध्ययन करना होगा। यह देखना होगा कि दिल्ली के सदासुखलाल और इन्शाअल्ला खॉ और आगरा के प० लल्लूलालजी ही हिन्दी के उत्थान मे किस प्रकार सहायक हो सके थे। सदलमिश्र तो बिहार के थे, लेकिन वह भी व्रजभाषा जानते थे तथा उनकी भाषा म व्रज का क्षीण पुट है।

उपरोक्त दृष्टि से आज की हिन्दी का विचार होना ही चाहिए। इस सत्प्रयत्न मे हमको भाषा और लिपि सम्बन्धी प्रकाश मिलेगा ही।

व्रज मे प्राप्त लेखो की संख्या सौ से अधिक है। इनमें तीन चौथाई लेख जैन संप्रदाय से सबन्धित हैं। बाकी के लेखा मे आधे से अधिक बौद्ध सप्रदाय के हैं। अधिकांश लेख मूर्तियो के नीचे चरण पादुकाओं म उत्कीर्ण हैं, जिनकी भाषा मिश्रित है। ये सब क्षत्रप कुषाणकालीन हैं। गुप्तकालीन लेखा की भाषा सस्कृत है। शेष मे कुछ लेख स्तम्भो पर हैं लेकिन वह दो चार ही हैं। जैसे राजुवुल और सोडास के लेख, माथुरों का यूप लेख तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय का स्तम्भ लेख। राजवश से सम्बन्धित होने के कारण ये सब अत्यन्त महत्व के

है। क्योंकि अधिकाँश लेख धार्मिक संप्रदायों के हैं, अतः उनसे सांस्कृतिक झांखें भी मिलती हैं, लेकिन राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश नहीं पड़ता। उनसे मथुरा के राजनीतिक इतिहास पर अब तक कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ है।

मुद्रा सम्बन्धी टिप्पणी

मथुरा से प्राप्त सिक्कों पर भी ब्राह्मी लिपि है। ये सिक्के चार वर्गों में रखे जा सकते हैं। भारतीय राजाओं के सिक्के—इनका समय मौर्यकाल से लेकर शुंग युग तक है। पुराणों से इन राजाओं का पता नहीं लग पाया है। इनमें से अधिकाँश की लिपि शुंगकालीन है।

दूसरे वर्ग में क्षत्रप, राजुवुल और सोडास के सिक्के हैं। इनको कुषाण पूर्व माना जाता है। इनके अभिलेख भी मिले हैं। अतः यह निश्चित है कि इन्होंने मथुरा में राज्य किया था। ये विदेशी थे।

तीसरे वर्ग में कनिष्क, हुविष्क और वासिष्क या वासुदेव के सिक्के हैं। इनकी लिपि कुषाण कालीन है। सिक्कों की लिपि पर तो अलग से ही विचार किया जा सकता है, यों मोटे रूप से इनका काल विभाजन तो हो ही चुका है।

मैं आप लोगों का अधिक समय नहीं लेना चाहता, लेकिन इतना जानना आवश्यक है कि भारतीय इतिहास और साहित्य में मथुरा का स्थान है और उस स्थान की तुलना तक्षशिला काशी, सारनाथ, नालन्द, अहिच्छत्र और मोहेन्जोदरो से नहीं की जा सकती। कारण स्पष्ट है। तक्षशिला और काशी विद्या के केन्द्र थे, सारनाथ और नालन्द बौद्ध धर्म के केन्द्र थे। अहिच्छत्र की सामग्री अभी पूर्ण रूप से हमारे सम्मुख नहीं है। हाँ मोहेन्जोदेरो की सभ्यता अपने में पूर्ण थी। मथुरा का महत्व समन्वय में है—वह आर्य संस्कृति के तीनों प्रधान शाखाओं—वैदिक, जैन और बौद्ध का दिग्दर्शन है। भविष्य की ओर हमारी टकटकी लगी है, और जिज्ञासु इतिहासकार शूरसेन प्रदेश के गौरव के दर्शनों की इच्छा को मानस में जागृत रखते हुए तब तक मौनव्रत धारण कर अनुशीलन करते रहेंगे जब तक कि इसका नया अध्याय प्रारम्भ न हो जाय।

राष्ट्रीय सभ्यता के इतिहास का प्रमुख साधन

प्राचीन ग्रन्थ-संशोधन !

[ले०—श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव, नायब सूबा मुरैना, ग्वालियर]

प्रत्येक राष्ट्र के प्रमुख अंग मानव समाज की उन्नति अर्थात विकास पर विचार किया जावे तो हमें मानना पड़ेगा कि जहाँ मानव की आदिम अवस्था में विकारों का विभिन्न रूपों में प्रकटीकरण करते हुए विभिन्न विचार प्रदर्शन के विभिन्न साधन जुटाये गये, वहीं सभ्यता के इतिहास की नींव पड़ी। वन्यावस्था में मनुष्य-समाज के योग्य साधन जुटाना भी सम्भव नहीं था, अतएव उनकी धीरे धीरे प्रगति होती गई,—लगभग २५–३० वर्ष पूर्व मुम्बई विश्वविद्यालय की उच्च कक्षा की व्याख्यान माला में एक विचार छिड़ पड़ा था कि पहिले प्राकृत का उद्भव हुआ या संस्कृत का? और तत्कालीन कुछ प्रमुख विद्वानों ने एक स्वर से यही निर्णय किया था कि संस्कृत का अर्थ सुधरी हुई भाषा है, अतएव प्रारम्भिक भाषा का रूप प्राकृत ही होना चाहिये, किन्तु इधर भाषा शास्त्री उसके ठीक विरुद्ध निर्णय दे रहे हैं कि संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत मागधी, अर्ध-मागधी, शौरसेनी और अनन्तर हिन्दी-मराठी-बंगाली, और गुजराती आदि विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ। यही बात मानव सभ्यता के विकास क्रम के लिये भी लागू होती है। विचार प्रदर्शन के लिये लिपि का उद्गम बहुत देर से हुआ। इसी कारण इतिहास के प्रस्तरयुग, लोह-युग, ताम्रयुग आदि के नामकरण किये गये। आरम्भ में मूर्ति रूप में शिल्प, फिर गृह-भवन की वास्तु, आदान प्रदान के लिये विभिन्न चिन्हों के सिक्के, घटनायें अंकित करने के लिये लिपियुक्त शिलालेख और शास्त्र-कला-नीति आदि को स्थायी रूप देने के लिये भोजपत्र, ताल-पत्र, ताड़पत्र और सबसे अन्त में कागज का अन्वेषण होकर उस पर ग्रन्थ अंकित किये जाने लगे। सर ऑरल स्टीन ने मध्य एशिया और खोतान प्रदेश के रेती में धँसे हुए शहरों के तहखानों में ताड़पत्रों के अनेक

ग्रन्थ ढूँढ़ निकाले हैं। किंवदती है कि सातवीं शताब्दी में चीन
मे कागज का प्रचार हो चुका था, किन्तु इतिहास संशोधकों का
मत है कि भारत में ग्यारहवीं शताब्दी के अनन्तर ही कागज
प्रचार हुआ, जिसका श्रेय मुसलमान आक्रमणों को ही दि
जा सकता है। तभी से कागज पर ग्रन्थ, परवाने, सनदें, मह
करीने आदि लिखे जाने लगे। सुदूर दक्षिण प्रान्त, काँगड़ा और काश
में तथा नवद्वीप आदि विद्या के केन्द्रों में ताड़पत्र पर ग्रन्थ औ
करने की प्रथा भी प्रचलित रही, किन्तु सर्वसुलभ साधन काग
द्वारा ही ज्ञानप्रचारक मार्ग निश्चित किया गया।

मानव सभ्यता के विविध साधनों को ही इतिहास माना ज
है और नृतत्व के सिद्धान्तों से लगाकर लिखित साधनों का भी उ
अन्तर्भाव किया जाता है। इसी से भगवान वेदव्यासजी ने महाभा
के प्रणयन के समय इतिहास का महत्व बतलाते हुए, स्पष्ट रूप
कहा है कि—

इतिहास प्रदीपेन मोहा वारण घातिना।
लोकगर्भ ग्रहं कृत्स्नं यथावत् संप्रकाशितम्॥

उक्त ध्येय को सामने रखकर ही आज हम देख रहे है
विद्वत् जगत मे कहीं भूगर्भ संशोधन की चर्चा है, तो कहीं रसा
की। कोई मानव आचार-विचार की जाँच-पड़ताल में लगा हुआ
तो कोई श्रुतिगम्य लोककथा, लोकगीत एकत्र कर रहा है, कोई लिखि
साधन सिक्के, शिलालेख, ताम्रशासन, ग्रन्थ आदि की शोध ओ
चर्चा में व्यस्त है। यों तो मानव ज्ञान की अनेक शाखा-प्रशाखा
मानी गई हैं किन्तु उनमे से प्रमुख निम्न हैं—

(१) राजनैतिक इतिहास—अर्थात प्रस्तर, लोह, ताम्रयुग
लगाकर वर्तमान काल तक की विभिन्न घटनाओं का इतिहास।

(२) सैनिक तथा नाविक इतिहास—इसमे विभिन्न काल
युद्ध-साधन तथा बृहत्तर भारत मे उपनिवेशित जातियों के नावि
साधन भी अन्तरभूत है।

(३) आर्थिक इतिहास—इसमे व्यापार, खेती, कला, मजदू
भाव आदि का सन्निवेश होगा।

(४) साहित्यिक इतिहास—विभिन्न प्रान्तों के परस्पर आदान-प्रदान के साधन।

(५) धार्मिक इतिहास—आचार-व्यवहार और प्रायश्चित जिसमें कुलाचार, देशाचार, ग्रामाचार, आदि भी सम्मिलित हैं।

(६) विभिन्न पन्थ और सम्प्रदायों का इतिहास—सनातन धर्म, नाथपन्थ, जैनधर्म, वैष्णव, वाममार्ग आदि।

(७) सामाजिक इतिहास—समाज का रीति व्यवहार।

(८) शास्त्रों का इतिहास—इसमें वेद, मन्त्र, तन्त्र, न्याय, तर्क, व्याकरण, ज्योतिष, गणित, मीमांसा, आयुर्वेद, रसविद्या आदि का अन्तर्भाव होता है।

(९) कलाओं का इतिहास—इसमें चित्रकला, मूर्तिकला, सिक्के, शस्त्र, कपड़े, स्थापत्य आदि समाविष्ट हैं।

कई पश्चिमीय जिज्ञासुओं के आरम्भिक प्रयत्नों तथा हमारे देशनिवासी विद्वानों ने यद्यपि हमारी सभ्यता की उक्त ज्ञान-शाखाओं में संशोधन करने का प्रयत्न किया है किन्तु कुछ शाखाओं को छोड़कर अभी तक वह कार्य सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। विभिन्न कार्य-कर्त्ताओं के लिये उक्त कार्य क्षेत्र कितना व्यापक है यह बताने के लिये ही हमने ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की ऊपर चर्चा की है।

अब हम अपने लिये सौंपे हुए निश्चित विषय लिखित ग्रन्थों की शोध सम्बन्धी चर्चा करें। इतिहास के साधनों में सर्वश्रेष्ठ साधन लिखित ग्रन्थ ही कहे जा सकते हैं। सन १८६८ ई० में भारत सरकार ने विभिन्न प्रान्तों में हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों की खोज की नींव डाली, जिसके परिणामस्वरूप बंगाल की एशियाटिक सोसायटी, बम्बई, मद्रास, मैसूर, ट्रावनकोर, बड़ौदा ग्वालियर आदि की सरकारों, डाक्टर कीलहार्न, बूलर, पीटरसन, बर्नेल, भाण्डारकर, राधाकृष्ण आदि के प्रयत्नों से ग्रन्थ संशोधन का जो अपूर्व कार्य हुआ है, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। आरम्भ में संस्कृत ग्रन्थों का ही संशोधन आरम्भ हुआ था, किन्तु अनन्तर मराठी, बंगाली, गुजराती, फारसी, उर्दू, कनाड़ी आदि भाषाओं के संशोधन का भी कार्य आरम्भ हुआ और कहा जा सकता है कि इसके

आधार पर भारतीय सभ्यता के इतिहास का स्वरूप ही पलट गया। हमारे देश के प्राचीन ग्रन्थ तथा यूरोप, चीन, तिब्बत, लंका के लेखकों और मुसलमानों द्वारा लिखित ग्रंथों ने हमारे देश के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। यदि इन सब प्रयत्नों का परिचय कराया जावे तो एक बहुत बड़ा पोथा बन जावेगा। केवल यहां पर दो उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा कि प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर हमारे इतिहास मे क्या परिवर्तन हुआ। महान पराक्रमी सम्राट् समुद्रगुप्त के पुत्र रामगुप्त का कोई नाम नहीं जानता था, किन्तु देवी चन्द्रगुप्त नाटक के कुछ अवतरण के आधार पर गुप्त साम्राज्य के इतिहास के एक नये परिच्छेद का पता चल गया। पृथ्वीराज रासो, परमानन्द कवि का शिवभारत, कम्पराय चरित्र, मूषक वंश काव्य आदि प्राचीन ग्रन्थों के उपलब्ध हो जाने से ही हम को ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी हुई है। हिन्दी में भी सौभाग्य से प्राचीन ग्रन्थों के शोध का कार्य काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने आरम्भ किया और इस दिशा में कुछ व्यक्तिगत प्रयत्न भी हुए, जिससे आज हम हिन्दी साहित्य की रूप रेखा जानने में समर्थ हुए हैं, किन्तु ग्रन्थ संशोधन कार्य के लिए जिस मुख्य संदर्भ साधन की आवश्यकता है, उस ओर अभी तक हिन्दी की किसी संस्था या संशोधक का ध्यान नहीं गया। गत ८० वर्षों में भारतवर्ष में तथा विदेशों के ग्रन्थ संग्रहालयों में जो संस्कृत ग्रंथ उपलब्ध हुए या विभिन्न संस्थाओं और व्यक्तियों की ओर से जो सूचियाँ और टिप्पणियाँ प्रकशित हुईं उनके आधार पर डाक्टर ऑलफ्रेट ने दो बृहत् खण्डों में 'केटैलॉगस केटैलागोरम' नामक संदर्भ सूची का निर्माण किया, जिसमें अब तक के ज्ञात अज्ञात तथा प्रकाशित अप्रकाशित संस्कृत कवि लेखकों के संक्षिप्त परिचय के साथ उनकी कृतियों का भी उल्लेख किया है, जिसकी सहायता से कोई भी संशोधक निर्विवाद रूप से बता सकता है, कि उसको प्राप्त कवि या उसकी रचना अज्ञात या अप्रकाशित है, या नयी ?

उक्त ग्रन्थ का मूल्य १२०) रुपये है, और वह पुराना पड़ जाने, अप्राप्य तथा नूतन संशोधन का उसमें समावेश न होने के कारण मद्रास विश्वविद्यालय के द्वारा उक्त ग्रन्थ का एक अधयावत (uptodate) संस्करण प्रकाशित करने की आयोजना की गई है। मराठी

भाषा में भी आरम्भ में प्रसिद्ध साहित्य इतिहास कार श्रीमान्‌ जी नेमराठी के प्रकाशित अप्रकाशित कवि और उनके ग्रन्थों की एक संक्षिप्त सूची प्रकाशित की थी, किन्तु अनन्तर उसका परिवर्धित संस्करण 'मर्त कवि काव्य सूची' प्रकाशित हुआ जिसमें कवि का जन्म, समय, उसका निवास, संक्षिप्त परिचय, माता पिता ग्राम आदि तथा उसकी रचनाओं की समग्र सूची देदी गई है। जिससे खोज में कोई नया ग्रंथ मिलने पर कोई भी यह बता सकता है कि वह अब तक ज्ञात था, या अज्ञात। गुजराती में भी उक्त प्रकार की एक सूची का संकलन किया गया है, और वास्तव में जब तक ऐसे सन्दर्भ ग्रंथ उपलब्ध न हों तो संशोधन का कार्य क्यों न कैसे हो सकेगा? नाई की पटी में जब तक नेहरुओं, उस्तर का राग लगाने के लिये अवसर प्राप्ति न हो तो उनका भाग्य कदापि सतोषजनक नहीं कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि नागरी प्रचारिणी सभा के एक संशोधक महाशय गोरखपुर या लाहौर पहुँचे, और सौभाग्य से उन्हें किसी ब्राह्मण के घर या मंदिर में कुछ हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थ प्राप्त होगये। उनमें महाकवि सुन्दरजी लिखित बारहमासा नामक एक काव्य खंड मिल गया, किन्तु सुन्दरजी की रचाओं का एक ही स्थान पर उल्लेख कहीं नहीं मिलता। साहित्य के इतिहासों में या संकलित ग्रंथों में जो मिलती हैं, वह भी अपूर्ण भ्रमपूर्ण। यदि सुन्दरजी के जीवन की प्रमुख घटनायें, उनका जन्म मातापिता, निवास स्थान, दिल्ली का राजाश्रयकाल, प्रकाशित अप्रकाशित ग्रंथों की संख्या, सुन्दर नामधारी विभिन्न कवियों का एक ही स्थान पर उल्लेख आदि अंकित, हों तो उस संशोधक को नूतन प्राप्त ग्रन्थ किस कवि का हो सकता है, यह बात स्पष्ट। बताने में कोई असुविधा न होगी और न उसे काशी पहुँच कर किसी बड़े साहित्यिक का परामर्श, पुरानी खोज की रिपोर्ट, मिश्रबन्धु विनोद आदि के टटोलने की आवश्यकता ही पड़ेगी। अभी तो हिन्दी के नृपैयात्र प्रकाशित हुए, अथवा अब तक के प्रकाशित ग्रन्थों की प्रामाणिक सूची भी प्रकाशित नहीं हुई है, फिर हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का कैटेलागस कैटेलाग तो प्रकाशित होना तो दूर की बात है। महामहोपाध्याय स्वर्गीय डाक्टर श्रीधर वेंकटेश जी ने अपने बृहत्‌ ज्ञानकोष (विश्व

कोष-) की रचना के पूर्व सन् १८०५ से १६१५ ई० तक की प्रकाशित मराठी पुस्तकें तथा मराठी मासिक और साप्ताहिक पत्रों मे प्रकाशित महत्वपूर्ण लेखों की एक वृहत् सूची केवल इस उद्देश्य से प्रकाशित की थी कि मराठी भाषा मे अब तक किन विद्वानों ने किस विषय पर क्या और कहाँ लिखा था, जिसके आधार पर उस विषय का विवेचन करते समय उन पूर्व विचारों का समीकरण या सङ्कलन किया जा सके। उक्त सूची का मूल्य २५) था, जो अब अप्राप्य है। गत वर्ष प्रसिद्ध मुद्रण शास्त्रज्ञ श्रीदातेजी ने उक्त सूची का एक अद्ययावत संस्करण प्रकाशित किया है, जिसका मूल्य ७५) रु० है, और उसके संदर्भ से इस बात का शीघ्र ही परिज्ञान हो सकता है कि अब तक कितना और किस प्रकार का साहित्य मराठी में प्रकाशित हो चुका है। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने यहाँ संग्रहीत आर्यभाषा पुस्ककालय की एक अधूरी सूची प्रकाशित की है, जिसमे केवल ५-६ सहस्र ग्रन्थो का अधूरा परिचय दिया है। इसी प्रकार सभा की ओर से सम्वत् १६५७ से लगाकर सं० १६६८ तक हस्तलिखित ग्रन्थ शोध सम्बन्धी जो विवरण अँग्रेजी मे प्रकाशित हुये उनके आधार पर हस्तलिखित पुस्तको का संक्षिप्त विवरण प्रथम भाग प्रकाशित हुआ है किन्तु वह अत्यन्त निकम्मा संदर्भ-ग्रंथ कहा जा सकता है। डाक्टर आलफ्रेट तथा तद्विषयक अन्य भाषा के सन्दर्भ साधन ग्रंथ उपलब्ध होते हुए बाबू श्यामसुन्दरदासजी की पैनी दृष्टि मे संदर्भ ग्रंथों की रचना और उसका महत्व कैसे ओझल हो गया, समझ मे नहीं आता है। अतएव यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सबसे पहिले ग्रन्थ शोधकों की सुविधा के लिये आठवीं शताब्दी की सिद्ध कवियों की रचनाओ से लगाकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के समय तक की हिन्दी कवि काव्य सूची प्रकाशित की जाना परम आवश्यक है। अब हम ग्रन्थशोध कार्य के लिये जिन प्रमुख बातो की आवश्यकता है, उनका परिचय करायेंगे साथ ही इतिहास-काव्य आदि संशोधन मे किस प्रकार के अनुभव प्राप्त होते है, इसका भी उल्लेख करेंगे। महाराष्ट्र के ख्यातनामा—साहित्य संशोधक धुलिया (धुल) निवासी श्रीयुत शंकररावदेव ने सूत्र रूप मे संशोधक मे निम्न गुणों का होना आवश्यक बताया है—

स्वदेशेतिहास ज्ञान- शास्त्र ज्ञान।

संस्कृत-फारसी भाषा, लिपि ज्ञान ॥
कार्यनिष्ठा, कविकाव्यज्ञान ।
कष्ट, प्रेम मृदुजिह्वा, कल्पना ॥

और वास्तव में बिना उक्त गुणों के कोई भी संशोधन का कार्य कदापि नहीं कर सकता, यथा—

(१) स्वदेशेतिहासज्ञान—हिन्दी में वीर काव्य की रचना का समय क्या अद्भुत हुआ इसका कारण भारतीय इतिहास के सूक्ष्म अवलोकन से ही जाना जासकता है। विदेशी यवनों के आक्रमणों के कारण भारतीय सभ्यता छार छार हो रही थी। उस समय समाज में नवजीवन फूँकने के लिये वीर रचना का प्रचार करना ही आवश्यक था। मुसलमानों के राज्य की जड़ जमने पर उनके धर्म का विविध रूपेण प्रचार होने लगा, तब हमारे यहां के कर्मण्य सन्तों ने शान्त रस की रचना के द्वारा समाज में कर्तव्य की जागृति की। शाही आश्रय-प्रश्रय में आमोद प्रमोद में व्यस्त राजा बाबू के लिये रीति काव्य शृङ्गारादि की रचना की गई और विभिन्न आश्रयदाताओं की अभिरुचि के अनुसार उनके आश्रित कवियों ने विभिन्न प्रकार की रचनाएँ कीं, अतएव बिना तत्कालीन इतिहास का परिज्ञान हुए इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता कि किस कवि ने किस आश्रयदाता के लिये किस प्रकार की रचना की। छत्रपति सम्भाजी के लिये वे विलासी थे अतएव कवि कलश जैसा उनका आश्रित कवि नायिका भेद जैसा विप्रलम्भ शृङ्गारयुक्त रचना निर्मित करसका किन्तु यदि कल कोई किसी अज्ञात शृङ्गारिक रचना को भूषण की बताकर वह छत्रपति शिवाजी महाराज के लिये रची गई थी, इस बात को कहे तो वह भी कभी विश्वास योग्य नहीं माना जायगा क्योंकि न तो महाराज को शृंगार आदि के लिये अवकाश ही था और न भूषण ही वैसी कृति लिख सकते थे, अतएव बिना अपने देश के इतिहास का ज्ञान हुए ग्रंथ संशोधन का कार्य नहीं हो सकता।

(२) शास्त्र ज्ञान ज्ञान की विविध शाखाओं में संशोधन का भी अब शास्त्र बन चुका है। लिपि शास्त्र, मुद्राशास्त्र, मूर्ति शिल्पादि उन्हीं के अंगोपांग हैं। ग्रंथ किस प्रकार के कागज पर लिखा हुआ है, उसकी लिखावट कैसी है, प्रतिलिपिकार साक्षर भी है या केवल किराये

का ढङ्ग। बावन मातृकाएँ (स्वर-व्यञ्जन) और अक्षर वटिकागृन्थ की कैसी है आदि बातें जानना संशोधक के लिये अत्यन्त आवश्यक है। परिचायक टिप्पणी लिखने में भी योग्यता चाहिये। नागरी प्रचारिणी-सभा की ओर से ग्रन्थ परिचय सम्बन्धी जो फार्म प्रकाशित हुए हैं, वे यथावत नहीं कहे जा सकते। अतएव हम अपना अनुभव जन्य एक नमूना लिखे देते हैं। प्रोफेसर सत्येन्द्रजी ने ग्रन्थशोधन विधि में जो चर्चा की है, वह भी लाभदायक है।

(३) संस्कृतभाषा ज्ञान—ग्रन्थशोधन के लिये तद्भव, तत-सम शब्दों की जांच परख के लिये संस्कृत भाषा जानने की बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि प्रायः सभी भारतीय भाषायें संस्कृत संभूत ही हैं। भारत में यवनों का अधिक समय तक आधिपत्य रहने के कारण हमारी भाषा पर फारसी का भी बड़ा प्रभाव पड़ा; अतएव शब्दों के मूल और धातु जानने के लिये वह भाषा भी जानना आवश्यक है।

(४) लिपिज्ञान—ज, य, ण, आदि अक्षरों का विकास विभिन्न शताब्दियों में हुआ है। १२वीं, १५वीं, १७वीं और १६वीं, शताब्दि की लेखन प्रणाली विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग थी, अतएव जबतक अक्षरविन्यास का ज्ञान नहीं होगा, वह व्यक्ति योग्य संशोधक नहीं कहा जासकता।

(५) कार्यनिष्ठा – सबसे महत्व का गुण संशोधक में यही होना चाहिये। यदि एक शिकारी वध्य जीव को अपने कब्जे में न कर सका तो वह शिकार ही कैसे करेगा? मठ, मंदिर और पंडितों के यहां तो आपको यही जवाब मिलेगा कि वहां कोई सामग्री नहीं है; अतएव संशोधक को उसका पीछा पकड़ना ही आवश्यक है। मकान की दूसरी तीसरी मंजिल पर उपेक्षित रूप में भले ही ग्रन्थ पड़े सड़ रहे हों, किन्तु न उसका स्वामी जिज्ञासुओं के पूछने ताछने पर एक धनिक की नाईं अपनी पूंजी पर इठलाने लग जाता है और अपने वस्तु को बताने तथा टिप्पणियाँ लेने में सहायता करने को भी आनाकानी करने लगता है, किन्तु कार्यनिष्ठ संशोधक परिचय पत्र, द्रव्य का आयिश आदि के बलबूते पर इच्छित वस्तु प्राप्त करही लेता है। संशोधक को बड़ा पीछा पकड़ना पड़ता है। संशोधक के अनुभव भी बड़े मनोरञ्जक

और विचित्र होते हैं। कभी कभी तो संशोधक को उस व्यक्ति के मृत्युकाल तक बाट जोहनी पड़ती है, जिससे उनके उत्तराधिकारी के द्वारा सामग्री साध्य होसके।

(६) कवि काव्य ज्ञान— इसके विषय में हम ऊपर लिख ही चुके हैं कि हिन्दी में अभी तक के ज्ञात कवि और उनकी रचनाओं का एक ही स्थान पर सन्दर्भ नहीं मिलता, जिससे वर्तमान संशोधकों को बड़ी कठिनाई होती है। प्राप्त ग्रन्थ ज्ञात है या अज्ञात संशोधक को यह तो सूची से ही ज्ञात हो सकता है।

(७) कष्ट— प्राचीन वस्तुओं की खोजका कार्य वास्तव में देखा जाने तो तिरायेदार लोगों से नहीं हो सकता, जिन्हें उस विषय की स्वाभाविक अभिरुचि हो, वे ही वह कार्य यथावत रूप में कर सकते हैं। स्वान्त सुखाय कार्यकर्त्ता ही उस दिशा में प्रशंसनीय स्थायी कार्य कर सकते हैं, वेतनिक कार्यकर्त्ता को किसी स्थान पर कोई वस्तु होने का पता चले तो वह एकाध बार जाकर पूछताछ करेगा, अधिक से अधिक दूसरी बार भी जायेगा ? किन्तु पीछा तो वही पकड़ सकेगा, जिसको उस कार्य की लगन हो। स्वर्गीय आदर्श संशोधक इतिहासाचार्य राजवाडेजी ने काबुल से लगाकर कन्या कुमारी तक भूख प्यास सहकर पैदल यात्रा की थी, तब कहीं वे अमर कार्य कर सके। जिनके पास कोई संग्रह होता है वह उसका महत्व नहीं जानता। अधिकांश लोग इसी प्रकार के होते हैं और जब उन्हें उस वस्तु को बताने के लिये आग्रह किया जाता है तो वे उसे अत्यन्त गोपनीय समझते हैं। तथा उसे बताने में हीले हवाले करते रहते हैं। हफ्तों, महीनों और वर्षों तक कभी कभी उनका पीछा पकड़ना पड़ता है। मैं गत पच्चीस वर्षों से प्राचीन वस्तुओं की खोज का कार्य करता हूं, मेरे अनुभव की बात बड़ी मनोरञ्जक, विषादकारक और कभी कभी निराशा में परिवर्तित होने वाली भी सिद्ध हुई, किन्तु फिर भी साध्य के ध्येय को नहीं छोड़ा, जिससे अन्त में सफलता भी मिली। प्राचीन वस्तुओं का संशोधन आत्म-तुष्टि का अपूर्व उदाहरण होता है, जो भुक्तभोगी ही जानते हैं। पहाड़ खोदकर चूहा निकलना की कहावत की नाई संशोधक को प्रगाढ़ परिश्रम के अनन्तर जो साधन प्राप्त होता है, उसका मौलिक या आर्थिक

रूप से कोई महत्व नहीं रहता, हाँ! प्राचीन सांस्कृति का साधन एकत्रित होने के कारण उसका नाम और यश अवश्य ही स्थायी हो जाता है। महाराष्ट्र साहित्य सम्राट केलकरजी ने संशोधकों के विषय में एक व्यङ्गात्मक सुभाषित की रचना की है, जिसका आशय यह है कि "संशोधक महाशय का महत्व रंगबिरंगे किन्तु जीर्ण और उड़े हुए रङ्ग के चित्रों से विभूषित होता है, उसका सिंहासन जीर्ण लेख युक्त पत्थर और उसके वस्त्र दीमक के खाये हुए प्राचीन कागजात होते हैं। उनके कोष मे भी पुराने सिक्के अर्थात मुद्रायें रहतीं है; किन्तु बाजार में उसका कोई मूल्य नहीं होता, संदेहात्मक स्वभाव के कारण उसकी आँखों पर सर्वदा मैग्नीफाईङ्गग्लास चढ़ा रहता है। उसके आसपास अश्रद्धा और तर्क-वितर्क का जमघट बना रहता है। उस शून्य राज्य मे राज्य करने वाले राजा की मुद्रा अर्थात् सिक्का मोर्तब भी रहता है; किन्तु उसकी आज्ञा से बिलश्त भर जमीन भी किसी को नहीं मिल सकती तथा सेनादल की तो बात ही क्या, वृक्ष का पत्ता भी वह नहीं हिला सकता।" यद्यपि उक्त बातें विनोद-गर्भित है और उससे प्रत्यक्ष रूप मे संशोधक की मखौल उड़ाई गई है, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो ये निस्वार्थी और शुद्ध ज्ञानाभिलाषा की ही परिचायक है। मूल सुभाषित निम्न है—

"उद्ध्वस्तवर्ण रुचि चित्र कलापहर्म्यः
विच्छिन्न लेखन पुराण शिलासनस्थः।
दुष्कीट भुक्त शतपत्र पर्येत्तरीयः
निर्मूल्यनाणकगेणैः परिपूर्णः कोशः।
नष्टाधिकार परिहासितगर्व मुद्रः
संदेह वृत्ति वंशवृहंणयंत्र दृष्टिः
श्रद्धावितर्क मरिचारक वेष्टिनॉगः संशोधकः
खलुप्रशास्ति विशून्यराज्यम् ॥"

संशोधन कार्य के लिये किस प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं, इस बात का परिचय कराने के लिये यहां कुछ स्वानुभवजन्य बातें लिखी जाती हैं। सन् १८९५ मे शिवपुरी मे अँग्रेजी छावनी रहा करती थी। वहाँ के एक अँग्रेज सेनापति पेशावर में रह चुके थे। उन्हें पुरानी वस्तुओं के संग्रह करने का चाव था। अतएव उन्होंने पेशावर-तक्षशिला

ओर उन्होंने वापिस नहीं किये, जिससे वे संग्राहक महाशय विदक गये और मेरी तरह अन्य कोई महाशय उनसे जिज्ञासा करते तो वे उत्तर देते कि उनका संग्रह उनके शव के साथ ही जला दिया जावेगा। मैंने उनके परिचित और आश्रयदाताओं की उन तक शिफारिशें भी पहुँचाई, किन्तु मै सफल न हो सका। वर्षों तक प्रतीक्षा करने के अनन्तर उनकी मृत्यु के बाद उनकी विधवा की सहायता से मैंने वह संग्रह देखा, जिसमे १५ वीं १६ वीं शताब्दी के नल-दमयन्ती चम्पू जैसे अपूर्व ग्रन्थ प्राप्त हुए, अर्थात् संशोधन के लिए योग्य अवसर की भी बाट जोहनी पड़ती है। गवालियर के एक मठाधीश का मनोरञ्जक वर्णन सुनने लायक है। उनके यहाँ कुछ संग्रह होने का पता चला तो मै महीनो उनके अभिवचनानुसार प्रति रविवार को जाता और खाली हाथ लौट आता। मठ के आश्रयदाता एक सरदार तथा महन्तजी के अनुयायी एक शिष्य की शिफारिशें भी लड़ाई। अन्त में मै स्वयम् उनका भक्त बन गया और वार्षिक गुरुपूजन भी करने लगा, तब कहीं महन्त महोदय पसीजे और उन्होंने एक दिन रविवार को संग्रह बताने का अभिवचन दिया। मै निश्चित समय पर पहुँचा और मठ के तहखाने से सैकड़ो ग्रंथ बाहर निकाले, जिसमें दस बीस मरे हुए चूहे और सड़े गले कागजो का ढेर भी निकाला। उसी में मुझे मठ को अग्रहार मे दिए हुये पाँच गाँवो की बीरवर यशवन्तराव होल्कर की दी हुई सनदे, सातवी शताब्दी का एक ताड़-पत्र का ग्रंथ (शारदा लिपि मे लिखा हुआ) तथा अन्य कुछ सामग्री प्राप्त हुई, जिसके आधार पर मै यथासम्भव नोट्स भी लेता गया। आठ नौ घंटे परिश्रम करने के अनन्तर दूसरे दिन नोट्स लेने के उद्देश्य से वह सामग्री ज्यो की त्यो रख छोड़ने का मैंने महन्त महोदय से विनय-अनुनय भी किया, किन्तु दूसरे दिवस पहुँच कर देखा तो महन्तजी के पट्ट शिष्य महाशय ने वह सामग्री तहखाने मे दबाकर उस पर ताला ठोंक दिया और मुझे उसके नोट्स लेने से साफ इन्कार कर दिया। तो भी मै प्राप्त सामग्री के आधार पर मठ-संस्थापक सन्त कवि का चरित्र प्रकाशित करने मे समर्थ हुआ। तीन चार वर्षों तक के प्रयत्न और उठाई-धराई का भी यथावत् परिणाम नहीं निकला। इसी से कहा जा सकता है कि संशोधक को केवल स्वान्तः सुखाय अपार कष्ट करने की आदत डालनी चाहिए।

(८) प्रेम — जिनके यहाँ से सामग्री हस्तगत करनी हो उनसे जब तक घुलने मिलने, सौहार्द्र्य बताने और परस्पर प्रेम और विश्वास उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त नहीं होगी, तब तक सामग्री का संग्रह करने में सफलता मिलना कठिन है। यदि वध्य वस्तु आरम्भ ही में भड़क जाय, तो शिकारी क्या कर सकता है? प्राप्य वस्तु को प्रकाशित करने से तुम्हारे बाप-दादाओं का नाम होगा, भविष्य में तुम्हें इससे लाभ पहुँचेगा, तुम्हारा भी परिचय देश देशान्तर में हो जायगा आदि ममत्व की बातें जब तक गले न उतारी जायँ तब तक वस्तु प्राप्त करना कठिन होता है। जिस प्रकार मैसमेरिज़म या हिपनाटिज़म का प्रयोग किये बिना माध्यम के द्वारा इच्छित बातें ज्ञात नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार वस्तु स्वामी को अपने वश में न कर लिया जावे, तब तक वह वस्तु हस्तगत नहीं होती। अतएव संशोधक को सहृदय होना ही चाहिये। यह अत्यन्त आवश्यक गुण है।

(९) मृदुजिह्वा — प्रियम्ब्रूयात का सुभाषित जिसने पढ़ा है, वही उसका महत्व जान सकता है। स्वर्गीय इतिहासाचार्य राजवाडेजी बड़ी लगन वाले निस्पृह किन्तु गर्वी थे, वे कभी-कभी कटुभाषण द्वारा अत्यन्त अप्रिय भी बन जाते थ। एक समय आप ग्वालियर के शास्त्री महाशय का संग्रह देखने गये। उनका सांवला सा चेहरा और सादा रहन सहन देखकर शास्त्री महाशय ने उनसे पूछा कि क्या आप कुछ जानते भी हैं, तब वे सहसा बोल उठे "मैं महा मूर्ख हूँ"। तब तो हम मूर्ख को कोई बात बताना अभीष्ट नहीं है। यह जवाब शास्त्री जी से पाते ही आप तपाक से कह उठे, "ठीक है, आपकी मृत्यु हो जाने के बाद जब आपकी विधवा इन ग्रन्थों को रद्दी में बाजार में बेचेगी तब मैं उन्हें खरीदकर देखूँगा।' परिणाम यह निकला कि राजवाडे जी उस संग्रह को देखने से वंचित रह गये, यदि मृदुभाषण उनमें होता तो वे बहुत अधिक कार्य कर सकते थे, अतएव संशोधकों को दूसरों पर अपना प्रभाव डालने के लिये मृदुभाषी होना आवश्यक है।

(१०) कल्पना — इतिहास संशोधक को कल्पना के आधार पर प्राचीन वस्तुओं की टोह में रहना चाहिये। मैं भिण्ड जिले में नायब सूबा था। मैं भिण्ड से एक ग्राम में दौरे को गया। वहाँ के मंदिर का पुजारी

गौड़ जाति का था। मैंने उससे पूछा "गौड़ तो जयपुर प्रान्त के निवासी होते हैं। तुम यहाँ कैसे? गौड़ों का मुख्य पेशा कत्थक का होना है।" तब उसने कहा कि आपने ठीक कहा मेरे दादा जयपुर में कत्थक का पेशा करते थे, जो रीवा नरेश महाराज रघुराजसिंह के आश्रित थे। उनका विवाह इस ग्राम में हुआ और दहेज में मंदिर मिला। मैंने पूछा तो तुम्हारे यहाँ नृत्य-संगीत सम्बन्धी कुछ साहित्य होगा ही। फिर दूसरे दिन मैं मंदिर पहुँचा और भगवान को २) चढ़ाये। उसी लोभ से प्रभावित होकर उसने अपने मकान के दूसरे मंजिल पर कोने में पड़े हुए बस्ते मुझे लाकर बताये जो कम से कम २५-३० वर्षों से खोले तक नहीं गये थे, किन्तु मुझे सौभाग्य से उन्हीं में, संगीत, नृत्य, भजन, अकलनामा, चकत्ता की परम्परा आदि अपूर्व सामग्री प्राप्त हुई। ब्राह्मणों (पंडित-पुराणिक) के गृह, मंदिर, मठ आदि में प्राचीन ग्रंथ, बनिये-ठठेरों के यहां पुरानी मुद्रायें, भाट-चारणों के यहाँ मौखिक साहित्य, राजपूतों, जागीरदारों व काजियों आदि के यहाँ सनदें, फरमान और पुराने देवालयों, सतीस्तभों, छतरियों पर शिलालेख तथा शीतला माता के संग्रहों में प्राचीन शिल्पों के अवशेष ढूँढ़ने में संशोधकों को अपनी कल्पना का उपयोग करना पड़ता है। किसी स्थानिक व्यक्ति की सहायता से प्राचीन सामग्री आसानी से टटोली व साध्य की जा सकती है। अपने पैरों पर खड़े रहना और अपनी कल्पना से नूतन सामग्री ढूँढ़ निकालना ही यथार्थ प्रतिभा का परिचायक होता है। संशोधक में यही गुण अधिक मात्रा में होना आवश्यक है।

ऊपर संशोधकों के मुख्य एवं आवश्यक गुणों का संक्षेप में अनुभवजन्य उदाहरणों से परिचय दिया गया है। साधन सामग्री की चिकित्सा और मीमांसा अनुभव से ही की जा सकती है। यदि उस क्षेत्र में किसी ने कार्य किया हो भी तो उसका अनुभव अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकता है। लिपिशैली, भाषा प्रकार, लेखक का निवास, ग्राम, आश्रयदाता का परिचय, रचनाकाल आदि विषय की बारीकियाँ और खूबियाँ जानना और प्रगटीकरण महत्व का होता है। स्थानीय और प्रान्तीय संशोधक अपने-अपने स्थान पर जितनी सुलभता से कार्य कर सकते है उतनी सफलता बाहर के नौकर संशोधकों को प्राप्त होना कठिन है। हिन्दी में श्री कृष्णबिहारीजी मिश्र

द्वारा प्राचीन साहित्य सम्बन्धी चर्चा करने वाला साहित्य-समालोचक पत्र प्रकाशित किया गया था, अभी ओरछा से भी लोकवार्ता का प्रकाशन आरम्भ हुआ था, किन्तु वह पत्र भी अकाल में ही कालग्रसित होगया। यत्र तत्र नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्राचीन साहित्य की चर्चा सुनाई देती है, किन्तु पर भाषाओं में उक्त विषय के स्वतन्त्र पत्र प्रकाशित होते हैं। अनेक प्रान्तीय भाषाओं की संस्थाओं के पाक्षिक, मासिक, और वार्षिक अधिवेशन होकर उनमें नूतन संशोधित ग्रन्थ, कवि तथा प्राचीन साहित्य सम्बन्धी चर्चा भी होती रहती है। भगवान् करे हिन्दी में भी ऐसी संस्थायें स्थापित हों, जो लगन के संशोधक तैयार करें और उनके प्रयत्न सामयिक पत्रों के रूप में प्रकाशित होकर नवयुवकों में प्राचीन साहित्य सम्बन्धी श्रद्धा बढाने का साधन उपलब्ध हो जाय।

ब्रजभाषा साहित्य का प्रवृत्तिगत विकास

[व्याख्याता—श्री गुलाबराय एम० ए०]

ब्रजभाषा की महत्ता—खड़ी बोली के साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व ब्रजभाषा का सबसे अधिक साहित्यिक मान रहा है। वह हिन्दी साहित्य-जगत की राष्ट्रभाषा के स्पृहणीय पद पर आसीन थी। वह अपनी वास्तविक एवं प्रभावगत व्यापकता के कारण अपने इस पद को सवा सोलह आने सार्थक कर रही थी। जहाँ-जहाँ कृष्णोपासना का प्रभाव रहा है, वहाँ-वहाँ ब्रजभाषा का साम्राज्य रहा है—कुछ कुछ वैसा ही जैसा कि भूषण ने शिवराज के अधिकार के संबंध में कहा है 'पूरब पछाँह देस दच्छिन से उत्तर लों, जहाँ पातसाही तहाँ दावा सिवराज को'। ब्रजभाषा का क्षेत्र शौरसेन प्रदेश में ही सीमित नहीं रहा, वरन् मीरा और नरसी महता के कारण राजस्थान और गुजरात तक फैला हुआ था। वैष्णवों का कृष्णभक्ति सम्बन्धी साहित्य चाहे वह बंग भाषा में ही क्यों न हो, ब्रजबोली के नाम से प्रख्यात है। सुदूर दक्षिण में भूषण ने छत्रपति शिवाजी का यशगान कर ब्रजभाषा की विजय वैजयंती स्थापित की थी।

भारत में सदा से मध्यदेश की भाषा का बोलबाला रहा है। शौरसेनी प्राकृत सब प्राकृतों में मुख्य गिनी जाती रही है। कुछ आचार्य तो उसका महाराष्ट्री से तादात्म्य करते हैं और शेष प्राकृतों का उसके मापदंड से मापा जाना बतलाते हैं। शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश दोनों से ही उसकी उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा का अधिक मान रहा है।

ब्रजभाषा की कुछ विशेषताएँ—ब्रजभाषा का मान 'बे-मुल्क के नवाब' का सा केवल शाही आभिजात्य पर ही निर्भर न था। वह अपने अपूर्व नाद सौन्दर्य में पूर्ववर्तिनी भाषाओं से भी चार कदम आगे बढ़ी हुई थी और अर्थ गाम्भीर्य में भी किसी से पीछे न थी। उसके व्याकरण की विशेषताएँ बतलाना या तो डा० धीरेन्द्र वर्मा या

किशोरीदास वाजपेयी का काम है। मेरे लिए व्याकरण तो व्याकरण के मूलस्रोत माहेश्वर सूत्रों में अभिव्यक्त होने वाले डमरूनाद से अधिक सार्थक नहीं हो पाया है। 'प्राप्ते सन्निहिते मरणे' की बात को तो मैं छोड़ दूंगा क्योंकि मृत्यु का नाम ही बुरा है, फिर बच्चन जी के शब्दों में 'उस पार न जाने क्या होगा' किन्तु उसके आगे की बात अवश्य कहूँगा 'नहि नहि रक्षित डुकृञ् करणे' कह कर अपने व्याकरण संबंधी अज्ञान पर सुन्दर दार्शनिक आवरण डाल लेना चाहता हूँ। फिर भी यह कहा जा सकता है कि मुख-सुख और श्रुति-मधुरता के जितने भाषा-शास्त्र सम्बन्धी साधन हैं वे सब व्रजभाषा की उच्चारणगत विशेषताओं में उदारतापूर्वक अपनाये गये हैं। व्रजभाषा न पश्चिम की खड़ी बोली की भाँति खड़ी और न पूरब की भाँति पड़ी है। उसके सर्वनाम, विशेषण और भूतकालिक कृदन्त न तो खड़ीबोली के हमारा छोटा, बड़ा, गया आदि की भाँति आकारान्त हैं जिनमें पूरा मुँह खोल कर दीनता से मुँह बा देने का प्रयोग सार्थक होता है और जिनमें सारी संचित प्राणशक्ति का दिवाला निकल जाता है और न अवधी की सी हमार, छोट, बड़काय आदि लघ्वन्त शब्द सम्बन्धी उच्चारण की कृपणता है जिनमें कंजूसों की मुट्ठी की तरह ओष्ठपुट बन्द हो जाते हैं। उसके शब्द ओकारान्त होते हैं, जिनके उच्चारण में न ओष्ट बिलकुल चौपट खुल जाते हैं और न बन्द ही रहते हैं। व्रजभाषा में संधियों से भी पूरा-पूरा लाभ उठा कर मुख-सुख की पूर्ण साधना की गई है। अवधी इकार बहुला है और व्रजभाषा यकार बहुला। अवधी का उ व्रजभाषा में व हो जाता है। अवधी में उ के पश्चात आ का उच्चारण भी व्रजभाषा के अनुकूल नहीं है। उसके दुआर और कुआर व्रजभाषा में द्वार, क्वार हो जाते हैं। व्रजभाषा में श का स, ण का न, व का ब हो जाना उसकी कोमल प्रकृति का द्योतक है। खैर, हमारा विषय व्रजभाषा का व्याकरण नहीं है, उसका साहित्य है। मैं इस प्रसंगान्तर में इसलिए पड़ गया कि बता सकूँ कि व्रजभाषा साहित्य की व्यापकता के क्या कारण हैं। मेरी समझ में संक्षेप में इसके तीन कारण हैं—

१. कृष्णोपासना का आश्रय।

२. श्रुति-माधुर्य।

३. मानवी भावों के कोमल और सरस पक्ष से सम्बन्ध।

ब्रजभाषा-साहित्य का प्रारंभिक काल—ब्रजभाषा काव्य के बाल्यकाल का सीधा परिचय हम लोगों को बहुत कम है। हिन्दीसाहित्य-गगन के सूर्य सूर में हमको प्रथम दर्शन उसके पूर्व यौवन-काल में होते हैं। बाल्यकाल उसका अनुमेय मात्र है। यत्र तत्र उसकी झाँकी हमको अवश्य मिली है। किन्तु उस बाल्यकाल और यौवन-काल में किसी विकाससूत्र का पाना बहुत कठिन है। गुरु गोरखनाथ में हमें उसके गद्य की झलक मिलती है। उस समय यदि गद्य लिखा जा सका तो पद्य शायद उससे भी पूर्व अस्तित्व में आ चुका होगा। आचार्य शुक्लजी ने संवत १४०० के करीब के गद्य का जो नमूना दिया है, वह इस प्रकार है—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्दस्वरूप हैं शरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें शरीर चेतनि और आनन्दमय होतु है।"

शुक्लजी ने ब्रजभाषा के दो प्राचीन पदों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। एक के सम्बन्ध में तो यह कहा है कि वह समान रूप से कबीर और सूर में मिलता है। वह इस प्रकार है—

है हरि भजन को परवान
नीच पावै ऊंच पदवी, बाजते निसान,
भजन को परताप ऐसो तिरे जल पाषान,
अधम भील, अजाति गनिका चढ़े जाति विमान।

दूसरा पद उन्होंने बैजू बावरे का जो तानसेन के गुरु थे, बतलाया है। वह इस प्रकार है—

मुरली बजाय रिझाय लइ मुख मोहन त
गोपी रीझ रही रस तानन सों
सुध बुध सब बिसराई
बैजू बनवारी बंसी अधर धरी, वृन्दावन चन्द बस किए सुनत ही कान

मेरा पद्य कवि के पद पढित को प्रकाश में लाने के लिए हम पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के ऋणी हैं। श्रद्धेय सिश्रबन्धुओं ने निर्णित खराक के आधार पर मेरा कवि का काल १८०३ बतलाया है। मेरा का कविता इस प्रकार है—

जब ते गोपाल मधुवन को सिधारे आली
मधुवन भयो मधुदानव विषम सों
सेन कहै सारिका सिखंडी खंजरीट सुक
मिल के कलेस कीनों कालिंदी कदम सों।

यों तो पृथ्वीराज रासो की भाषा को डा० श्यामसुन्दरदासजी ने पिंगल कहा है—पिंगल-डिंगल के विरोध में व्रजभाषा का परिचायक है। वह पिंगल केवल सुव्यवस्थित छंदबद्धता और भाषा की प्रांजलता के कारण ही नहीं है, वरन् उसमें व्रजभाषा का प्रभाव भी है। उसमें ओकारांत क्रियाओं का बाहुल्य है। यह बात राजस्थानी के व्यापक गुरु के रूप में भी ली जा सकती है। कबीर के कहे जाने वाले पद में भी संदेह हो सकता है। सेन के काल में भी अंतर होने की सम्भावना है, किन्तु बैजू के पद से यह अवश्य संकेत मिलता है कि सूर से पहले कम से कम व्रजभाषा गीत-काव्य की एक मौखिक परंपरा अवश्य थी और उसमें कृष्ण के व्रजमाधुर्य का—यदि दार्शनिक भाषा के प्रयोग के लिए अप्रतीत्व दोष से मैं [illegible] लांछित न की जाय तो मैं कहूँगा कि समवाय सम्बन्ध [illegible] हो चुका था। व्रज वनिताओं का सा व्रजभाषा का कृष्ण प्रेम आज तक उनकी नस नस में प्रवेश किए हुए है। 'लरिकाई को प्रेम अलि कहौ कैसे छूटे।'

कृष्ण काव्य की परंपरा—कृष्ण काव्य की लोकप्रियता हिन्दी, बंगला आदि प्रांतीय साहित्यों तक ही सीमित नहीं है, वरन् उसके मूलतन्तु संस्कृत और प्राकृत साहित्य में दूर तक दृष्टिगोचर होते हैं। कृष्ण की महत्ता और लोकप्रियता कृष्णोपासना की व्यापकता और प्राचीनता पर निर्भर है। विष्णु की महत्ता वैदिक काल में ही प्रस्थापित हो चुकी थी। विष्णु शब्द 'विश' धातु से बना है। वैदिक काल में उनका सूर्य से तादात्म्य रहा है। गीता में भी यह बात स्वीकृत हुई है, 'आदित्यानामहं विष्णुः'। वामनावतार की कथा का जो संकेत हम को बीज रूप से ऋग्वेद में मिलता है—

विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा च निदधे पदं समूढमस्य पांसुरे (ऋ० १, २, ७२)

वह उनकी व्यापकता का द्योतक है। विष्णु के अवतारों में जितनी प्रसिद्धि और पूजा राम और कृष्ण को मिली, उतनी और किसी को नहीं। राम (सब में रमने वाले) और कृष्ण अपने वासुदेव नाम से व्यापकता के द्योतक होने के कारण विष्णु के ही पर्याय हैं।

वसनात् सर्वभूताना वसुत्वाद् देवयोनित,
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्वाद विष्णुरुच्यते।

अर्थात्, सब भूतों में बसने के कारण अपनी, दीप्ति के कारण देवताओं की उत्पत्ति के स्थान होने के कारण वे, वासुदेव कहलाते हैं, और विराट रूप होने के कारण विष्णु कहलाते हैं।

ऋग्वेद में भी विष्णु का गौओं से सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध में डा० नलिनी मोहन सान्याल ने लिखा है कि ऋग्वेद में (१, २२, १८) विष्णु गोपा नाम से अभिहित हुए हैं। ऋग्वेद (१, १५४, ६) में विष्णुलोक में बहुशृंग विशिष्ट गायों का उल्लेख है। मैंने स्वयं वेदों के दर्शन तो शायद आर्य-समाज की कृपा से कर लिये हों, किन्तु उन्हें पढ़ा नहीं है। फिर भी मुझे विश्वास है कि यह उल्लेख ठीक है। इसमें अर्थभेद हो सकता है। किन्तु बीज रूप में गोपाल कृष्ण सम्बन्धी मनमोहक कथाओं की आधारभूमि उपस्थित करने के लिए इतना उल्लेख पर्याप्त है। छान्दोग्य उपनिषद् (३, १७, ६) में देवकी पुत्र कृष्ण घोर आंगिरस के शिष्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। पाणिनी के समय वासुदेवक शब्द वासुदेव सम्प्रदाय की व्यापकता का साक्षी है। छान्दोग्य उपनिषद् में आई हुई शिक्षाओं का गीता के मतव्यों से साम्य होने के कारण छान्दोग्य और गीता के कृष्णों का तादात्म्य किया जाता है। वे एक न भी हों, पर इसमें यह अवश्य प्रमाणित हो जाता है कि कृष्ण नाम की प्रसिद्धि वैदिक काल में भी थी।

राधा रानी का नाम इतना पुराना नहीं प्रतीत होता। श्रीमद्भागवत में राधा नाम का उल्लेख नहीं है, इस बात को वैष्णव आचार्यों ने स्वीकार किया है। राधा नाम का विशाखा अभाव न था। अमरकोष में विशाखा नक्षत्र का दूसरा नाम राधा है। राधा का नाम न होते हुए भी श्रीकृष्णजी की बाल और किशोर लीलाओं का माधुर्य पर श्रीमद्भागवत तथा पद्मपुराण में विस्तृत हो चुका था। पुराण ही नहीं, कवि-कुलगुरु कालिदास, जो अपने धार्मिक विचारों में शैव प्रतीत होते हैं कृष्णलीला तथा भगवान कृष्ण के विहार-स्थान वृन्दावन और गोकुल के माधुर्य से प्रभावित थे। वे मेघदूत में इन्द्र-धनुष से सुशोभित मेघ की उपमा मोर मुकुट मंडित गोपवेश वर विष्णु अर्थात् श्रीकृष्ण से देते हैं। देखिए,